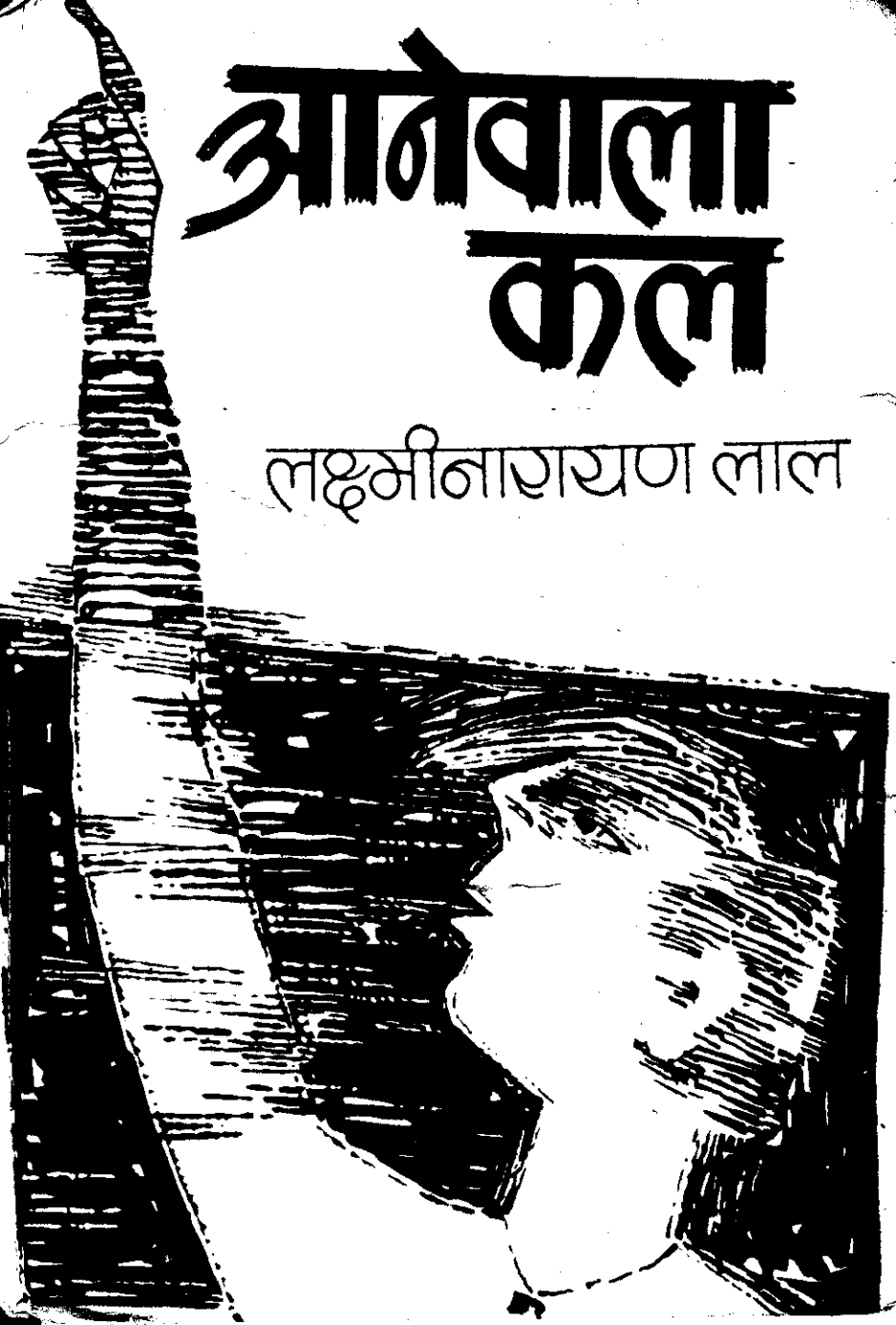


आनेवाला कल

लक्ष्मीनारायण लाल

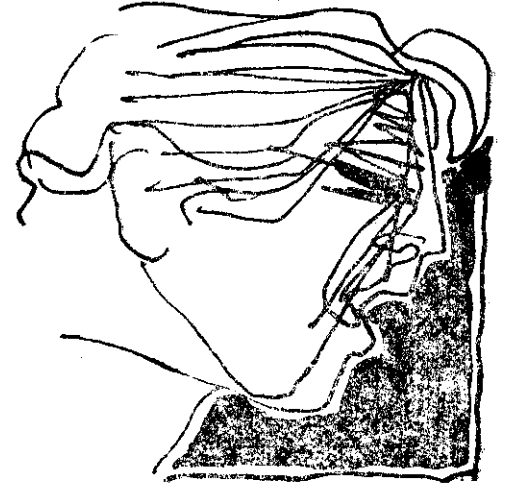


आनेवाला कल

डा० लक्ष्मीनारायण लाल की
नई कहानियां

आनेवाला काल

लक्ष्मीनारायण लाल



त्रिपि प्रकाशन

1, अंसारी रोड, नई दिल्ली-2

मूल्य : ₹० 25.00

© डा० लक्ष्मीनारायण लाल
प्रथम संस्करण : 1987

प्रकाशक

लिपि प्रकाशन

1, अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-110 002

AANEWALA KAL
(Short Stories)
by Dr. Laxmi Narayan Lal

क्रम

डोका-डोकी दंतकथा	7
दूसरा अंक	19
काली	27
आनेवाला कल	39
उसकी लड़की	46
आशंका	54
अज-विलाप	61
वही कथा कहो, मां	73
कथा बिसरजन	80
“मैं अपने पात्रों द्वारा रचा गया पात्र हूँ”	92

(अमृता प्रीतम के साथ साक्षात्कार)

श्री गंगानाथ चतुर्वेदी
को सप्रेम

डोका-डोकी दंतकथा

आखिर एक दिन कामिनी की कांव-कांव श्रीपाल चतुर्वेदी के कानों में पहुंचनी ही थी। सुनते ही पति महोदय के बदन में आग लग गई। कामिनी नामक पत्नी के मन में तो कोई डर था नहीं, पढ़ी-लिखी होशियार, दिल्ली स्थित विदेशी कंपनी में साढ़े पांच हजार रुपये पगार पाने वाली—एकदम चौचक। जो सच्ची बात थी, वह खोलकर सामने रख दी, “यू...आई मीन तुम...मेरे ऊपर हाथ उठाया। मैं अब तुम्हारे साथ नहीं...नहीं...नहीं... रहूंगी।”

“तो फिर ?”

श्रीपाल चतुर्वेदी के लंगोटिया यार विजयी सिंह श्रीपाल के दोस्त मुनीर आलम से पति-पत्नी का वह कौतुक सुना रहे थे।

विजयी सिंह बात रोककर बोले, “मैं यहां आ कैसे पहुंचा, यही पहले बताता हूँ। दिल्ली में श्रीपाल से मिलने का यह फल है।”

मुनीर ने कहा, “विजयी, बिलकुल धूमकेतु हो तुम। कहां से कहां ! जो सुना रहे थे, वही सुनाओ। बकवास मत करो। हां, तो क्या हुआ ?”

“इतने बड़े अखबार के सम्पादक श्रीपाल ने बड़े इत्मीनान से इतने प्रश्न एक कागज़ पर लिखकर मिसेज कामिनी चतुर्वेदी के हाथ में थमा दिया—

बसंत में कोयल क्यों गाती है ?

ऋतु आते ही वृक्षों को बौर क्यों आता है ?

गर्मी में धुंधली-सी भी न दिखने वाली बिजली पावस में सहज क्यों चमकने लगती है ?

कलियां क्यों फूलती हैं ?

नदियां समुद्र की ओर ही बहकर क्यों जाती हैं ?

पृथ्वी सूर्य के चारों ओर ही चक्कर क्यों काटती है ?

कामिनी ने उन प्रश्नों को फाड़ते हुए कहा, “क्रेजी, नानसेंस ! अपने आपको समझते क्या हो, मैं वह बेवकूफ धर्मपत्नी नहीं, मैं मैं हूँ !” जिसका नाम कामिनी है। मैं तुम्हें छोड़कर जा रही हूँ अभी।”

चतुर्वेदी जी ने अपने सहज मृदु स्वर में कहा, “भई, मैंने सिर्फ हाथ उठाया, मारा तो नहीं।”

“हाथ क्यों उठाया ?”

“वह तो मुहावरा है।”

“नानसेंस !”

कामिनी अपना सामान अपनी गाड़ी में रखकर बोली, “अपनी नौकरानी चंद्रा को कल ले जाऊंगी, ठीक !”

“ठीक।”

चतुर्वेदी ने पास आकर पूछा, “यह अंगूठी क्यों पहनाई मेरे हाथ में ?”

“प्रेम की निशानी के रूप में।”

“कहां गया वह प्रेम ?”

“उड़ गया वह।”

“हवा में हाथ उठाते ही ?”

“जी आपने मुझे समझ क्या रखा था ?”

“तो उड़ गया वह ?”

“जी, हां।”

“प्रेम क्या आवारा पंछी है ?”

“मेरे पास वक्त नहीं, तुम्हारी बकवास सुनने...”

कामिनी गुस्से से थर-थर कांपने लगी थी। पूरे शब्द निकल नहीं पा रहे थे मुंह से।

चौबे ने हवा में फिर वही हाथ उठाते हुए कहा, “प्रेम आवारा पंछी

नहीं है। उसे पिंजड़े में बंद कर नहीं रखना पड़ता।”

“तो ?”

“तो क्या ? तुम मेरी तरफ से स्वतंत्र हो, जहां जाना चाहो, जा सकती हो।”

कहने और सुनने वाले दोनों मित्रों को पता था कि श्रीपाल ने कामिनी से सिर्फ एक कागज लिखकर शादी की थी। कागज में लिखकर दिया था ‘कामिनी, तुम्हारी जब इच्छा हो मुझे छोड़कर तत्काल, बिना किसी शर्त के जा सकती हो, स्वतंत्रतापूर्वक।’ तभी तो श्रीपाल ने कामिनी को किसी भी प्रकार के बंधन में नहीं बांधा था—न कानूनी, न विधिवत् विवाह के, शास्त्रीय।

श्रीपाल चतुर्वेदी का कहना नहीं, विश्वास था कि पहले एक पुरुष है और नारी है, फिर पति-पत्नी। और जब दोनों में किसी का भी दूसरे से प्रेम हो गया तो फिर बात ही अलग है। उसमें कोई कचहरी, नियम, कानून, हिन्दू विवाह शास्त्र की दखलंदाजी की कोई गुंजाइश ही कहां रह जाती है। पति-पत्नी की पटती न हो तो सबसे पहले पत्नी यानी स्त्री के लिए रास्ता खुला रहना चाहिए। स्त्री, नारी, पत्नी की इस स्वतंत्रता के विषय पर चतुर्वेदी जी ने न जाने कितने लेख, कितने संपादकीय, अपने दैनिक पत्र में लिखे थे। उसी सबसे प्रभावित कामिनी लंदन में श्रीपाल से मिली थी। पंडितजी जिस संस्थान में भारतीय पत्रकारिता पर चार ‘पेपर्स’ पढ़ने गए थे, उसी संस्थान में कामिनी रिसर्च स्कालर थी। वहीं दोनों की भेंट हुई थी।

एक शाम लंदन के वारेन स्ट्रीट से पैदल चारिंग क्रॉस आते हुए कामिनी ने गर्दन नचाकर श्रीपाल से कहा कि आप मुझे बहुत अच्छे लगते हैं। ‘आई लव यू’। पंडितजी पहले तो असमंजस में पड़ गए। फिर मुस्कराते हुए बोले, “असुविधा न हो तो रोजाना, जब तक मैं यहां हूँ, मेरे साथ रात का भोजन किया करो।”

वह बोली थी, “बात असुविधा की नहीं, पसंद की है।”

वह सारी घटना लंदन से शुरू होकर श्रीपाल चतुर्वेदी के कामिनी के साथ दक्षिण दिल्ली में घर बसाने तक पूरे विस्तार से इन मित्रों को पता

थी। यहां तक पता था कि कैसे कामिनी, सादिक हुसैन नामक युवक के साथ अमरीका भागकर गई थी। कैसे सादिक उसे लंदन में धोखा देकर भागा था।

खैर, जो हुआ सो हुआ। मगर पूरे तीन साल पति-पत्नी की जिंदगी जी चुकने के बाद, हवा में हाथ उठाने भर से पत्नी के प्रेम का पंछी भर से उड़ गया, यह बात किसी तरह से भी दोस्तों के गले नहीं उतरी।

सकते में आकर दबी जबान से मुनीर आलम विजयी सिंह से कहने लगे, “यह तो बहुत बुरा हुआ, यार! अपने यार चौबे का क्या हुआ होगा? ऐसे जानदार शौहर की मान-मर्यादा, दिल-दिमाग का तो कुछ खयाल रखना था।”

मान-मर्यादा, दिल-दिमाग के अचीते बोल सुनकर विजयी सिंह की मुस्कराहट गायब हो गई। गोया कोई बाज एक ही झपट्टे में कोई प्यारी खूबसूरत चिड़िया छीनकर उड़ गया हो।

विजयी सिंह बोले, “अरे, तुम अपने चौबेजी का स्वभाव तो जानते हो, कैसी सीधी कड़ी बात पट्ट से मुंह पर दागते हैं। अरे, तुम मान-मर्यादा की बात करते हो, कामिनी तो ऐसी गुस्सैल है कि उस वक्त वह कुछ भी कर डालती। बस घर, पति-प्रेमी सबको एक मिनट में छोड़कर चली गई।”

“अच्छा फिर?”

“तीन रात तो वह अकेली किसी होटल में रही। फिर लड़कियों के किसी होस्टल में। अगले दिन चौबेजी से नहीं रहा गया। वह सीधे उसके दफ्तर गए। बोले—‘ऐ कैसी स्त्री है, पुरुष की जरा-सी बात नहीं बर्दाश्त कर सकती।’ कामिनी ने कहा—‘तुम होंगे बड़े एडीटर, तुम्हारी मेरे साथ वह हरकत, जरा-सी बात लगती है?’ इसके साथ ही उसकी आंखें छलछला आईं। उसके मुंह से आगे एक शब्द भी न निकला। वह अपने दफ्तर के काम में लग गई। पंडितजी ने समझाना चाहा कि यों गुस्सा करने से काम नहीं चलता। मानता हूं तुम इतनी जवान और आकर्षक हो, मगर कोरे-मोरे रूप से क्या होता है भला! रूप से बड़ा गुण और गुण से भी बड़ी अक्ल। मगर कोई फायदा नहीं। पति का पत्नी पर कोई असर नहीं।”

यह कहकर विजयी सिंह चुप हो गए।

और क्या होता? कामिनी को अपनी कंपनी से एक फ्लैट मिला। वह भी मामूली जगह नहीं—सुंदर नगर में। श्रीपाल ने कामिनी की नौकरानी चंद्रा को उसकी पांच साल की लड़की के साथ, सुंदर नगर के उस फ्लैट में पहुंचाया। वापस अकेले लौटते हुए उन्होंने कहा, “ध्यान रखना, अहंकार-जनित गुस्सा गांधारी के समान होता है। आंखें होते हुए भी वह अंधे जैसा ही बर्ताव करता है।”

मेम साहब के लिए रात का भोजन परोसते हुए एक दिन चंद्रा ने कहा, “छिमा मांगू साहब, गलत कहूं तो जूती मारो मेरे माथे, अपना घर काहे छोड़ दिया जी?”

कामिनी ने कहा, “ये बात तेरी समझ में नहीं आएगी।”

चंद्रा चुप रह गई। पर कामिनी अपने आप को जवाब देती रही। स्त्री का जीवन पुरुष पर कितना अवलंबित होता है, इसकी मुझे इतनी कल्पना नहीं थी। किसी की होकर रहने का एक ही मतलब है—उसकी पत्नी होना, और पत्नी होने का अर्थ है—उसका गुलाम होना। तो जीवन काहे का? जीवन माने प्रेम, यह पढ़ा था, मुना भी था। लेकिन जीवन व्यवहार में देखा, पतंग और प्रेमिका में कोई अंतर है क्या? पतंग आकाश में उड़ने लगती है, तब बड़ा मजा आता है। लेकिन वह अपनी इच्छानुसार चाहे जहां जा सकती है क्या? जिसके हाथ में पतंग की डोर होती है, उसी की इच्छा सच्ची है। विवाह चाहे जैसा हो, स्त्री तो पत्नी ही है। स्त्री कहां है वह? स्त्री के गले में मंगलसूत्र और पतंग की डोर में फर्क ही क्या है?

उधर श्रीपाल चतुर्वेदी जी अपने काम में मस्त। कोई भी उनसे पूछता कि पत्नी कहां चली गई तो एकदम साफ बेबाक बताते, “मुझे छोड़कर चली गई।”

“थाखिर क्यों?”

“अरे क्यों क्या? स्त्री पुरुष छोड़कर क्यों न जाए?”

“लेकिन कोई वजह?”

“अरे वजह भी कोई चीज है। सारी जिंदगी वजह ही वजह है। समझो वह नाराज हो रूठकर चली गई हो।”

“पर वह तो दूसरा ढूंढ़ रही है।”

“अरे सब ही तो दूसरा ढूँढ़ रहे हैं। आप नहीं ढूँढ़ रहे ?”

“पंडितजी, ऐसा है....”

“ऐसा-वैसा कुछ नहीं है। जरा अपने आप से थोड़ा हटकर खुद को देखने का सवाल है। मगर स्त्री-पुरुष को प्रेम से थोड़ा छुटकारा मिल गया है, तो इसमें दुख की क्या बात ?”

दरअसल श्रीपालजी को समझ नहीं आ रहा था कि लोग-बाग अपनी चिंता क्यों नहीं करते, सबकी अपनी-अपनी इतनी समस्याएं हैं। लोग दूसरों की समस्याओं को लेकर इतने परेशान क्यों हैं? वे मेरी पत्नी के बारे में इतनी चिंता क्यों कर रहे हैं? लोगों को बर्दाश्त नहीं है कि कोई स्त्री इतनी संतुष्ट और निश्चित क्यों है बगैर किसी पुरुष के। उसकी जरा-सी स्वतंत्रता सबकी चिंता बन गई है। उसकी जवानी, उसका खिला हुआ चेहरा लोगों को इतना दुखी क्यों कर रहा है? उसका खिला हुआ चेहरा और उन्मुक्त जीवन ही तो उसका है। उसे लोग उसका घमंड क्यों मानते हैं?

वे पुरुष, जो उसकी ओर इस नज़र से देखते हैं कि काश, वह मुझे मिल जाती, किसी भी रूप में, भाव में; वे घाटा खा चुके लोग हैं। और वह कामिनी ?

अब ये लो। वह जिस मन चाहे पुरुष की ओर देखती है, तो मानो उससे यह कहलवा लेना चाहती है कि तुम और मैं... यह जोड़ी कैसी रहेगी? फिर वही प्रश्न वह अपने आप से भी करती है—यह मेरे लिए कैसा रहेगा ?

इस प्रश्न के साथ कामिनी में एक विचित्र-सी घबड़ाहट बढ़ती जा रही थी, होशियार बनने की घबड़ाहट। जिसके कारण उसे अपने चेहरे पर बनावट पैदा करने में मुश्किल हो रही थी। उसका डर बढ़ता जा रहा था कि ऐसा ही रहा तो सबको पता लग जाएगा।

ऐसी चिंता कामिनी के जीवन में पहली बार हुई, और ऐसा भय... बाप रे बाप !

दफ्तर से रोज बाहर—देर रात तक क्लब, होटल, पार्टी, सैर-सपाटे, मिलना-जुलना, हा-हा-हू-ही, नाच-गाने, दावतें....

रात को जब नींद नहीं आती तो कामिनी पलंग पर बैठी-बैठी कागज़ पर लिखती चली जाती—

अगर मैंने श्रीपाल से उस तरह शादी न की होती। किसी और से की होती ?

मेरा जन्म कानपुर में न हुआ होता ?

मेरे पिता पुलिस अफसर न होते ?

मेरी उस घोखेबाज़ से भेंट ही न हुई होती ?

मेरी मां बचपन में न मरी होती ?

अगर मैं इतनी खूबसूरत न होती ?

हारने से इतना डर न होता तो....?

अगर श्रीपाल इतने बड़े अखबार का मुख्य संपादक न होता। कोई सरकारी अफसर होता या कोई बड़ा उद्योगपति। चलो, कोई राजनेता ही होता।

मेरे पास इतनी दौलत होती कि मैं जिसे चाहती उसे खरीद लेती।

सुबह तक नींद न आई। वह सारी रात इसी तरह लिखती रही। सुबह चाय के साथ नौकरानी चंद्रा ने हिंदी का वही अखबार दिया, जिसके संपादक श्रीपाल चतुर्वेदी थे। अंग्रेज़ी का अखबार उस दिन आया न था।

चाय पीते-पीते अखबार के चौथे पेज पर श्रीपाल का लिखा हुआ संपादकीय था, जिसका शीर्षक था—‘नारद प्रसंग।’ विषय था राजनीतिक, बंगाल में चुनाव संबंधी। पर शीर्षक था नारद प्रसंग। यही फूहड़ता थी उनकी। किसी चीज़ में कोई तालमेल नहीं। काम कुछ, नाम कुछ। सुर कहीं, ताल कहीं। मुंह में हर समय पान ठूँसे-ठूँसे काम करने का नतीजा और क्या हो सकता है।

कामिनी ने नौकरानी से पूछा, “ये नारद कौन है ?”

उसने गर्दन चमकाकर कहा, “नारद है, साहेब !”

“कौन है ? जल्दी-जल्दी बता।”

“लेव, जल्दी लेव साहेब ! किया भंड, किया घमंड। किया आसु, किया पासु। अरे नारद की क्या तपस्या क्या इंद्र भगवान की खिसिपस्ता। हुआ ई साहेब कि एक बार नारदजी तपस्या करने लागे। मुनि की गति

देखि इंदर भगवान गए डरि । सो साहेब, झट-पट कामदेव को बुलाई के आडर दिया कि जाओ नारदजी की समाधि तपिस्या भंग करो । सो गया कामदेव नारद के पास, मुला वहां से भागा, फिर नारदजी प्रसन्न होइ, गए शिवजी के पास । मन मा अहंकार हुआ कि मैंने काम को जीत लिया । शिवजी नारद जी से बोले, देख्यो भइया, अपनी जीत की ई बात विष्णु भगवान से न कहना । मुला होनी कौन टारता है । नारद विष्णु भगवान के पास भी अपनु अहंकार झार दियो तब ...”

चंद्रा की नजर पड़ी । हाय दइया, मेम साहेब तो सो गई थीं । चलो अच्छा ही हुआ । रात को अब नींद भी तो नहीं आती । करीब साढ़े नौ बजे उनकी नींद खुली । खुली क्या, किसी मुभाष भाटिया का फोन आया बंबई से, उसी वजह से नींद टूटी । पता नहीं क्या बात हुई फोन पर, उसी शाम भाटिया से मिलने बंबई उड़ गई ।

मगर इच्छा और मंशा में फर्क होता है । कामिनी की न इच्छा पूरी हुई, न मंशा । लौट आई दिल्ली । न जाने कौन-सी चीज पुराने घर में छूटी थी, वही ढूंढ़ने आई । चीज तो मिली नहीं । नौकर हरीराम से पूछा कि संपादकजी कहां है ? उसने भी जैसे को तैसा जवाब दिया—खुद देखि आवो न, बुलबुल उड़ाना देखि रहे हैं ।

कामिनी ने गर्दन घुमाकर देखा, चतुर्वेदीजी भर मुंह पान दाबे खिड़की के बाहर बुलबुल उड़ाने फिर ठाट पै वापस बैठाने की खेल देखने में मगन थे । कामिनी को हैरत न हुई । मन-ही-मन यह सोचती हुई घर से बाहर निकल गई कि ये आदमी एकदम 'न्यूराटिक' है । इससे कोई क्या बात करे । ये किसी की आवभगत क्या करेगा, इसे तो सिर्फ अपने पान से मतलब है ।

स्वारथ तिरिया, स्वारथ काम, स्वारथ जीवन, स्वारथ नाम । मतलब काम और नाम से जितना फर्क, उतना ही फर्क आगरे के उस सक्सेना में था, उससे ज्यादा चंडीगढ़ वाले उस मेहरोत्रा में था । उससे भी ज्यादा बदतर फर्क साबित हुआ बंबई का भाटिया । अजीब हालत है इन मर्दों की । बातें इतनी, तारीफें इतनी, दिखावे इतने सारे, लेकिन सब मरे-मारे । बातें अपने लिए तो उड़ाने भरतीं, पर दूसरे के लिए—खासकर औरत के लिए उनके

कलेजों पर बखिया लग जाती । जिसे जो मिल जाये उसकी कोई कीमत नहीं, जो नहीं मिले वही सब कुछ ।

देखते-देखते एक साल बीतने को आए । कहीं मन ही नहीं जमा । यह नहीं तो वह । वह नहीं तो वो । उसमें ये कमी, तो उसमें अगर एक वह बात और होती तो बात बन जाती । इसी उधेड़-बुन में कामिनी के शरीर का वजन जितना बढ़ रहा था, उसी अनुपात में उसका आत्मविश्वास घट रहा था ।

एक रात जब ढाई बजे तक उसे नींद नहीं आई, तो फिर उसने कोरे कागज पर लिखना शुरू किया—

जब मेरी तनख्वाह सात हजार हो जाएगी ।

जब मेरा वजन इतना कम हो जायेगा ।

जब चटर्जी की पहली औरत मरेगी ।

जब सिन्हा मुकदमा जीत जाएगा ।

लिखते-लिखते अचानक उसका ध्यान गया नौकरानी चंद्रा की आवाज पर । उसकी बिटिया को कल से बुखार था । उसे सुलाने के लिए वही कह रही थी कि 'एक था डोका, एक थी डोकी । डोका ने मारा, डोकी चली रिसियाय । जाते-जाते डोकी को मिला एक बरगद का पेड़ । बरगद ने पूछा—डोकी कहां जा रही हो ? डोकी ने बताया कि डोका ने डोकी को मारा, सो डोकी चली रिसियाय । बरगद ने पूछा कि डोकी तुम मुझ पर रहोगी ? डोकी ने पूछा कि तुम मुझे क्या खिलाओगे, क्या पहनाओगे, कहां रखोगे ? बरगद ने कहा कि तुम्हें खिलाऊंगा अपना फल, पहनाऊंगा अपना पत्ता और रखूंगा अपने खोड़र में । इस पर डोकी ने कहा कि नहीं, नहीं, नहीं, तुम पर नहीं रहूंगी ।

चलते-चलते फिर रास्ते में मिला पोखर का एक बगुला । उसने पूछा कि डोकी कहां जा रही हो ? डोकी ने वही जवाब दिया । बगुले ने पूछा कि मुझ पर रहोगी ? डोकी ने वही पूछा कि क्या खिलाओगे, क्या पहनाओगे और कहां रखोगे ? बगुले ने कहा कि पोखर की मछली खिलाऊंगा,

पोखर की काई पहनाऊंगा और पोखर के किनारे रखूंगा। डोकी ने मना कर दिया। इसी तरह एक सियार मिला। उसे भी डोकी ने मना कर दिया। फिर मिला एक चूहा। चूहे ने भी वही बात कही। डोकी ने भी वही बात पूछी। चूहे ने कहा कि बत्तीसों व्यंजन खिलाऊंगा। सोलहों शृंगार कराऊंगा राजमहल में सुलाऊंगा।

कामिनी के लिए उसी क्षण बंबई से फोन मिला कि अगले दिन उसे अहमदाबाद पहुंचकर दुबई स्थित उद्योगपति हनुमंतराव जोशी से उनकी कोठी में मिलना है। जोशीजी से शादी की बात अगर आपने मान ली है तो तैयारी पूरी हो चुकी है।

सुबह कामिनी एयरपोर्ट जाने की तैयारी कर चुकी थी। चाय पीती हुई उस दिन के हिंदी अखबार पर नज़र दौड़ा रही थी। सहसा श्रीपाल चतुर्वेदी की एक टिप्पणी पर नज़र रुक गई। लिखा था—

असंतुष्टा द्विजा नष्टा:

संतुष्टाच महीपतिः।

सलज्जा गणिका नष्टा

निलज्जाश्च कुलांगना।

कामिनी को लगा, श्रीपाल ने जान-बूझकर पूरे इरादे से वह टिप्पणी उसे चोट पहुंचाने के लिए छापी है। नारद प्रसंग जैसे संपादकीयों के भी इरादे अब साफ हो चुके थे। उसने सोचा, मुंहतोड़ जवाब देने का समय आ चुका है। फोन मिलाया। पता चला चतुर्वेदीजी सो रहे हैं। नौकर को धमकाया। चतुर्वेदीजी जगकर फोन पर विहंसते हुए बोले, “ये कोई सपना तो नहीं देख रहा हूं। हां-हां, मेरी बात तो सुनो। अच्छा चलो, सुनाओ तुम्हीं।”

“अच्छा, अच्छा, सुंदर, बहुत सुंदर” जैसे टेक से चतुर्वेदी कामिनी की आवेश भरी बातें सुनते रहे। मुंह में पान लेकर अंत में बोले, “मेरी बधाई स्वीकार करो, देवि! सिर्फ इतना याद रखना कि मर्द की अक्ल ढकी रहनी चाहिए और औरत की शकल। कुदरत को ढांपना ही इंसान की समझदारी है। इसी खातिर हम कपड़े पहनते हैं।”

शटके से कामिनी ने फोन पटक दिया। सब कुछ जैसे झनझना उठा।

कामिनी का वह फ्लैट। फ्लैट के नीचे आकर खड़ी हुई टैक्सी। उस दिन का वह अखबार। चंद्रा नौकरानी के कान। चौके-चूल्हे के बर्तन। फ्लैट के बाहर गुलमोहर की डाल पर बैठे हुए बुलबुल के जोड़े।

दिल्ली की बिजली अहमदाबाद आ ऐसी गिरी, ऐसी गिरी कि कोई क्या करे, और क्या कहे? तीन रातों के बाद उस आलीशान कोठी के एकांत कमरे में हनुमंतराव जोशी अपने हाथों में कामिनी के हाथ लेकर पिघले स्वर में कहने लगा कि फकत तीन रात साथ रहने से एक-दूसरे को ठीक से नहीं जाना जा सकता, इसलिए...

थोड़ी देर तक तो कुछ भी समझ में नहीं आया। कामिनी का सारा अहंकार उसे ही धूरने लगा। नारद प्रसंग स्पष्ट होने लगा। डोका-डोकी उसकी समझ में बैठने लगा। अपने से दूसरे की बात का रहस्य भी खुलने लगा। पर मन तो मन ही है। मन तन और धन से भी बड़ा है। सो उसी मन की मालकिन कामिनी दिल्ली लौटी। पीछे-पीछे वही हनुमंतराव जोशी। कैसा भी नया स्वाद हो, उसके पीछे भागने, दुहराने की बेसब्री सारा कुछ वेस्वाद कर देता है। कहावत है, नई बात एक दिन खींचातानी तीन दिन। उसके आगे ‘हाट अटक’। जी हां, पालम हवाई अड्डे से महारानी बाग पहुंचने से पहले मायापति साहूकार हनुमंतराव जोशी के धड़कते दिल ने जवाब दे दिया।

अखबार के दफ्तर में अपनी संपादकीय कुर्सी से लेकर टेलीप्रिंटर तक मुंह में पान दबाये श्रीपाल चतुर्वेदी चहलकदमी कर रहे थे। शाम के साढ़े आठ बज रहे थे। टेलीप्रिंटर पर खास चटकदार समाचार आ रहा था। समाचार देने वाला भी जमकर मजे ले रहा था—चटकार लेता हुआ।... अहमदाबाद गुजरात के युवा उद्योगपति हनुमंतराव जोशी युवती कामिनी दिल का खेल दिल का दौरा...दिल्ली में...कामिनी...कामिनी...के पति... कामिनी के भूतपूर्व प्रेमी स्वतंत्र कामिनी...

झपट्टा मारकर टेलीप्रिंटर के कागज को चतुर्वेदी ने मशीन से फाड़ लिया। उनके दिल के कागज पर मानो झमाझम छपने लगा था—

...जानवर तो जानवर है। भागते हुए यदि वश में न आये तो कितना जोड़िम...अपने लिए खतरनाक...दूसरे के लिए भयंकर।

सब कुछ वहीं वैसे छोड़कर श्रीपाल चतुर्वेदी जी घड़घड़ाते हुए सुंदर नगर, कामिनी के फ्लैट में पहुंचे। उस वक्त कामिनी आँधे मुँह सोफे पर पड़ी रो रही थी। पंडितजी ने दोनों बाँहों से पकड़कर उसे इस तरह उठा लिया, जैसे माँ नवजात शिशु को उठाती है।

“उठो। चलो।”

“कहाँ?”

“चलती हो कि नहीं?”

“नहीं।”

“उस बार सिर्फ हाथ उठाया था, अब नहीं छोड़ूंगा।”

“तिरी ये हिम्मत?”

“हिम्मत नहीं प्राप्ति की स्वीकृति।”

“ह्वाट?”

“उठो, चलो मेरे साथ, बताता हूँ न। पराई भाषा में नहीं, अपने को अपनी ही भाषा में... चलो।”

ऐसे आदेश के बाद कौसी देर। एक साथ हवा में चार आँखें दो हो गयीं। अपने घर पहुंचकर चौबेजी ने कहा कि बावली, मेरी चौबाइन होकर तू इतना भी नहीं जानती कि माँ अपने बच्चे पर कैसे हाथ उठाती है। बोल, हवा को कभी बयार की चोट लगी है? या कच्चे बर्तन को कुम्हार के हाथ की चोट लगी है। वह तो हाथ का परस है, जिसे स्पर्श कहते हैं पढ़े-लिखे लोग। मैं तो परसता हूँ। लो आज पान-परस करो।

मुनीर आलम ने कहा, “भाई, वाह! कभी-कभी इंसान की कारीगरी से कुदरत का मेल बैठ ही जाता है। अपना तो कभी मेल नहीं बैठा।”

विजयी सिंह बोले, “देखो भाई, चौबेजी-जैसा दिल-दिमाग तो अपना लोग के पास है नहीं। याद है, बचपन में बुलबुल फंसाते थे। उड़ाते थे, उड़ाकर फिर बुला लेते थे अपने ठाँव पर।”

दूसरा अंक

पहला अंक।

फिर दूसरा अंक।

केवल नाटक में ही नहीं होता। संपूर्ण जीवन एक नाटक है तो जीवन का भी दूसरा अंक होता है। मिस प्रिया राजन इससे भी और गहरे जाती हैं। वह कहती हैं...

पर मुनने वाला कौन है, तभी कहने का अर्थ मिलता है। मुनने वाला है पार्थ सारथी।

पार्थ से प्रिया की पहली भेंट रतलाम स्टेशन के प्रथम श्रेणी के विश्रामालय में हुई थी। यह बात दो-ढाई साल पहले की है। वर्षा के दिन थे। नहीं, भूल हो रही है—वर्षा की रात थी। घनघोर वारिष्ण हो रही थी। पार्थ दिल्ली से आया था और इंदौर की गाड़ी पकड़नी थी उसे। प्रिया इंदौर से आयी थी और बंबई जाने की ट्रेन लेनी थी उसे। पर वर्षा ने दोनों की गाड़ियाँ छुड़ा दी थीं।

पर यह बात तो बाद में प्रकट हुई। उस रात उस बेटिंग रूम में केवल तीन लोग थे। पार्थ, प्रिया और एक बूढ़ा आदमी जिसकी गोद में एक बच्चा चीख-चीखकर मानो दम तोड़ रहा था।

पार्थ के मुँह से निकला, “अरे भाई, बच्चे को चुप कराओ! चुप कराओ न! इसे गोद में लेकर जरा बाहर टहला दो, बाबा!”

बूढ़े पर कोई असर नहीं। तब प्रिया राजन के मुँह से निकला था,

“भाई साहब, आप ही इनकी मदद कीजिए न !”

पार्थ ने उस अपरिचित स्त्री की बात को जैसे आज्ञा के रूप में मानकर उस बच्चे को गोद में उठा लिया था। कमरे से बाहर निकलते ही सचमुच बच्चा शांत हो गया। थोड़ी ही देर में बच्चा पार्थ के अंक से लगकर सो गया।

बच्चे को बूढ़े के पास सुलाकर पार्थ जैसे ही अपनी आराम कुर्सी पर बैठने लगा था तभी उस अपरिचिता ने उसके पास आकर पूछा, “आपको कहां जाना है ?”

“इंदौर।”

“आप इंदौर के रहने वाले हैं ?”

“जी।”

“क्या करते हैं ?”

“फोटोग्राफी की दुकान है।”

“स्टूडियो है, ऐसा क्यों नहीं कहते ?”

बस इतनी-सी ही घटना थी कि इसके बाद दोनों ने सारी रात बातें करते-करते गुज़ार दी। प्रिया ने जैसे अपना पूरा परिचय ही दे डाला। वह आंध्र प्रदेश की है। इस समय हैदराबाद के एक गर्ल्स कॉलेज में पढ़ाती है। वह अविवाहित है। शादी के बारे में अभी तक कभी सोचा ही नहीं।

“और प्रेम ? कभी किसी से प्रेम तक नहीं किया ?”

“जी नहीं, कतई नहीं।”

“यह कैसे हो सकता है ! आप इतनी सुंदर, आकर्षक, स्मार्ट और आधुनिक, यह कैसे हो सकता है कि कोई पुरुष आपसे आकृष्ट न हुआ हो !”

“ऐसा कभी नहीं हुआ !”

“आप सच बोल रही हैं ?”

“झूठ भी क्यों बोलू ?”

“ताज्जुब है !”

“इसमें ताज्जुब करने की ऐसी कोई बात नहीं।”

“क्यों ?”

मिस राजन ने खुली जवान से कहा था, “मैं ऐसे पहले नहीं थी। बड़ी

डरपोक और घर की चारदीवारी में रहने वाली बेहद सुरक्षित लड़की थी। मेरे पिता पुलिस सुपरिंटेंडेंट थे। मैं कभी अकेली बाहर नहीं गई। मैं पहले ऐसी नहीं थी !”

दुबारा यह कहने पर पार्थ ने और आश्चर्य से पूछा था “क्या मतलब ? आप पहले इतनी सुंदर नहीं थीं ?”

“उसका तो पता नहीं।”

“तभी तो आप अब तक इतनी सुंदर हैं !”

“आप इतनी तारीफ क्यों किये जा रहे हैं ?”

“मैं फोटोग्राफर हूँ न !”

“तो ?”

“तो क्या ?”

“आप क्या समझते हैं, मेरी उमर क्या है ?”

“बाईस साल।”

“जी नहीं, बत्तीस साल तीन महीने।”

“आप झूठ बोलती हैं।”

“चलिए, मैं झूठ बोलती हूँ।”

अगले दिन दोनों की यात्राएं एक हो गईं। दोनों इंदौर पहुंचे थे।

इंदौर में पार्थ का स्टूडियो उसी के घर के बाहरी कमरे में था। बिल्कुल आधुनिक साज-सज्जा से सजा हुआ स्टूडियो। तरह-तरह के कैमरे। न जाने कितने चित्र खींचे थे पार्थ ने प्रिया के।

इसे प्रिया ने पहला अंक कहा था पार्थ से। इसके बाद मुश्किल से दो-ढाई वर्ष बीते होंगे। हां बीते होंगे, दोनों अपने-अपने ढंग से वर्ष, महीने, दिन गिनते रहे हैं। और दोनों को इस पर विश्वास नहीं होता।

कैसे इतनी जल्दी इतने दिन बीत गए। इस बीच उनकी कुल सात मुलाकातें हुई हैं। रतलाम स्टेशन वाली वह पहली मुलाकात भी उसमें शामिल है। दूसरी मुलाकात उनकी हैदराबाद में हुई। पार्थ खुद गया था प्रिया से मिलने हैदराबाद। उनकी तीसरी भेंट फिर इंदौर में हुई। प्रिया आई थी भेंट करने। चौथी भेंट उनकी त्रिचूर में हुई।

त्रिचूर की उस भेंट में पार्थ जैसे पहली बार प्रियाराजन का परिचय

पा सका। अपनी मौसी के बंगले के एक कमरे में बैठे दोनों कॉफी पी रहे थे। प्रिया केरल की स्त्री का पहनावा पहने थी। रेडियोग्राम में एक रिकार्ड बजाते हुए उसने कहा, “यह मैं गा रही हूँ। मैं पहले बहुत अच्छा गाती थी। मेरे गाए हुए दो रिकार्ड्स हैं।”

पार्थ उस संगीत में खो गया था। वह संगीत-रस अलौकिक था। उसमें एक अजीब रस छलक रहा था।

संगीत के बाद प्रिया ने जैसे सांस रोककर पार्थ को देखा। फिर धीरे-धीरे कहने लगी, “मुझे एक जगह पढ़ाने की नौकरी मिली। सुबह ट्रेन से वहाँ जाती, पढ़ाकर शाम को घर लौट आती। यह मेरी जिदगी का पहला ऐसा मौका था कि मैं अकेली इस तरह रोज सुबह-शाम ट्रेन की यात्रा करती। ट्रेन में एक दिन मुझे एक मुसाफिर मिला। हमारी इधर-उधर की बातें हुईं। उसने बताया वह इंजीनियर है। वह भी अपने काम पर इसी तरह सुबह जाता है और शाम को लौट आता है। वह अक्सर मेरे साथ हो लेता। सहयात्री के रूप में, आदमी के भी रूप में वह मुझे रुचिकर लगा। हर तरह से मुझ पर ध्यान देता। और एक दिन मुझे लगा वह अपनी तरफ से मेरे काफी करीब आ गया है। उसने बड़े विश्वास से पूछा—“आप शादी-शुदा हैं?” “जी नहीं, शादी करने के बारे में मैंने अभी सोचा तक नहीं। और आप?” मैंने एक दिन पूछा। उसने बताया—वह भी क्वारा है। हर रोज सफर में वह कोई-न-कोई दिलचस्प बात छेड़ देता और बातों ही बातों में बड़े मजे से हमारी यात्रा कट जाती। उसकी उन तमाम बातों में उसका यह भी एक खास मकसद होता कि वह अपने बारे में मुझे जानकारी दे। मसलन अपने घर-परिवार के बारे में। अपनी सेहत और भोजन के पसंद नापसंद के बारे में। अपनी तनख्वाह और आर्थिक स्थिति के बारे में। उसका वह परिचय पाना मुझे अच्छा लगता। वह संगीत में दिलचस्पी रखता है और कला-साहित्य के भी बारे में उसकी अच्छी जानकारी है।

“उससे मैंने बहुत-सी बातें सीखीं। अनेक चीजों के बारे में मुझे जानकारी हुई।

“एक दिन कॉलेज के पते पर मुझे उसका एक पत्र मिला। उस पत्र को पढ़कर मुझे तनिक भी आश्चर्य न हुआ। वह खुल्लम-खुल्ला प्रेमपत्र तो

नहीं था। वह कुछ दिनों के लिए बंगलौर जा रहा है अपनी बुआ को देखने जो मृत्युशय्या पर हैं। वह कब किस दिन आयेगा, इस बीच उसने मेरे बारे में क्या सोचा है और आगे किस रूप में मुझे देखना चाहता है—ये सारी बातें बहुत अच्छे ढंग से उसके पत्र में लिखी हुई थीं। मुझे उसका वह खत बहुत अच्छा लगा। उसके बिना मेरी यात्रा मुझे उबाती और उसकी मुझे बहुत याद आई।

“वह जब लौटा, तो मेरे लिए कांजीवरम् की एक कीमती साड़ी ले आया। मुझे अच्छा लगा। फिर मैंने उसे अपने घर पर आने की दावत दी। वह शौक से आया और मेरे मां-बाप को मुझसे भी अधिक अच्छा लगा।

“यह सब पूरे सात महीनों के भीतर हुआ। वर्ष बीतते-बीतते उसने शादी का प्रस्ताव रखा। मेरे मां-बाप ने स्वीकार कर लिया। मैंने भी स्वीकृति दे दी।

“एक दिन उसने बताया कि वह तमिल ब्राह्मण है। उस दिन मुझे पता चला, मैं केरल की नायर हूँ। मैंने पूछा कि तमिल ब्राह्मण और केरल की नायर फेमिली में शादी करने में क्या कोई बाधा है? उसने बताया—ऐसा कुछ नहीं है। मेरी मां बूढ़ी है। बहुत पुराने ख्यालात की है। उसके मरते ही हमारी शादी हो जायेगी।

“एक बार मैं कॉलेज के काम से जबलपुर आई। वह मेरे साथ आया। अब तक यह स्थिति हो गई थी कि न मैं उसके बिना रह सकती थी न वह मेरे बगैर।

“अब तक पूरे दो वर्ष बीतने को आए थे। वही जबलपुर में एक दिन जब मैं उसकी अटैची में उसके कपड़े रख रही थी, तब मुझे उसके कुछ खत पढ़ने को मिले। कुछ अदालती कागजात भी थे उसमें। पढ़कर मुझे पहली बार पता चला कि वह विवाहित है। उसके दो बच्चे हैं। पत्नी से तलाक पाने के लिए ‘डाइवोर्स’ का मुकदमा जज के इजलास में है। उस दिन मैं क्रोध से मानो पागल हो गई। इन खतों और कागजों को उसके मुंह पर फेंककर मैंने उस दिन यह साबित कर दिया कि सचमुच मैं नायर घर जाति की स्त्री हूँ। मैं रोती रही। वह मुझसे माफी मांगता रहा। मैं हर चीज को बर्दाश्त कर सकती हूँ पर झूठ को नहीं। वह भी प्रेम का

आधार झूठ और छल हो, यह मैं कभी सोच नहीं सकती।

“उस दिन से मेरा उसका संबंध टूट गया। वह बहुत रोया-गिड़गिड़ाया मैंने साफ कह दिया—‘नर्थिंग डूइंग।’

यह कहकर प्रियाराजन ठहाका मारकर हंस पड़ीं। फिर बोलीं, “सो मिस्टर पार्थ सारथी, यह मेरे जीवन के नाटक का पहला अंक है। और मेरे उस आदमी के जीवन का दूसरा अंक।... पर मुझे दूसरे अंक का एक नया गहरा अर्थ मिला है। यह दूसरा अंक क्या होता है—अब मैं बता सकती हूँ। जो जीवन में घटा हुआ रहता है, मतलब जो जीवन में छिपा रहता है, जो उसकी सच्चाई है, वही उसका दूसरा अंक। पहला अंक तो सदा पहला ही अंक दिखता है, होता है, पर अगर सच्चाई में ही झूठ है—मतलब दूसरा अंक ही निराधार है तो पहला अंक—पहला ‘एक्ट’ भय और प्रतिक्रिया के अलावा और कुछ नहीं। जी हाँ, जीवन नाटक उल्टे चलता है—पहले ‘सेकेंड एक्ट’ फिर ‘फर्स्ट एक्ट।’ ‘सेकेंड एक्ट’ वह है जो ‘फर्स्ट एक्ट’ को मदद पहुंचा सके। ‘सेकेंड लाइन आफ एक्शन इज सेकेंड एक्ट।’”

“तो?” पार्थ ने स्नेह से पूछा।

“तो क्या?”

“अब आप फिर किसी से प्रेम नहीं करेंगी?”

“क्यों नहीं? क्या आपको ऐसा नहीं लग रहा?”

“लग रहा है।”

“फिर ऐसा प्रश्न क्यों?”

पार्थ का माथा झुक गया। वह अपने आपको प्रियाराजन के सामने थोड़ा छोटा महसूस करने लगा।

प्रिया ने मुस्कराते हुए पूछा, “आपका दूसरा अंक क्या है? मतलब दूसरे अंक के बारे में क्या ख्याल है?”

पार्थ ने कहा, “मैं शादीशुदा हूँ। मैं तीन बच्चों का पिता हूँ। मैं अपनी पत्नी और बच्चों को बहुत प्यार करता हूँ।”

प्रिया के मुँह से निकला, “कितना सुंदर है प्यार करना।”

“आप भी कितनी सुंदर हैं।”

“बिना प्रेम के सुंदरता एक छल है।”

“आपको याद है—हमारी पहली मुलाकात—उसे आपने पहला अंक कहा था।”

प्रिया ने उदास स्वरों में पूछा, “क्या फिर पहला अंक हो सकता है?”

“हो सकता है क्या, होता है।”

“कैसे?”

“सच्चाई है जहां—जो छिपा है, घट चुका है जो, जब वह इतना सच्चा है—तो वहीं तो प्रेम है।”

“आप मुझसे प्रेम करते हैं?”

“आपको क्या लगता है?”

“मैं उसे अपने कानों से सुनना चाहती हूँ। उसे अपनी आंखों से देखना चाहती हूँ। उसे अभी इसी क्षण भोगना चाहती हूँ।”

यह कहती हुई प्रिया पार्थ की बांहों में लिपट गई। पार्थ उसे गहरे आलिंगन में बांधे रहा।

“तुम मेरी पहली प्रिया हो!”

उसने पार्थ के माथे को चूमते हुए कहा, “मैं दूसरी हूँ—यह सुनने में मेरा कोई अपमान नहीं।”

“मेरी प्रिया!”

दोनों न जाने कितनी देर तक चुपचाप एक-दूसरे को महसूस करते रहे थे। दोनों एक-दूसरे से कृतज्ञ थे।

प्रिया ने बच्चों की तरह पूछा, “तुम्हें तुम्हारी पत्नी की याद आई?”

“आई।”

“मैं कितनी खुश हूँ।”

फिर मौन छा गया। बड़े संकोच के साथ पार्थ ने पूछा, “तुम्हें उसकी याद आई?”

“आई। अब भी उसी की याद आ रही है।”

“क्या?”

“वह झूठ क्यों बोला? छल क्यों किया मेरे साथ? वह मुझे पहले ही सब सच बता सकता था।”

“उसे भय था।”

“क्या ?”

“तुम हाथ से छूट न जाओ।”

“मैं कोई पदार्थ हूँ ? बोलो, तुम पुरुष हो, मुझे बताओ ?”

“उत्तर तो आपने पा लिया है।”

“क्या ?”

“जब दूसरा अंक ही निराधार हो तो पहला अंक कहां से पूरा होगा !”

प्रिया की आंखों से अनायास आंसू बहने लगे। पार्थ उसका भीगता हुआ कोमल, निर्दोष मुख निहारता रहा।

सिसकियों के बीच प्रिया ने पूछा, “ऐसा क्यों होता है ?”

“आत्मविश्वास की कमी।”

“आत्मविश्वास क्या होता है ?”

“पुरुषार्थ।”

“पुरुषार्थ क्या है ?”

“प्रेम।”

“प्रेम क्या है ?”

“ईमानदारी।”

“ईमानदारी क्या है ?”

“एक-दूसरे से संबंधित होना।”

“संबंध क्या है ?”

“दुःख।”

“दुःख क्यों है ?”

“हर कोई दूसरे से अलग है। अपने आप से ही दूर है।”

प्रिया के मुंह से निकला, “दूरी तो विरह है।”

पार्थ बोला, “हां, अगर प्रेम है तो !”

काली

रात को साग-भात खा चुकने के बाद बड़े भाई संचित ने अपने छोटे भाई संतोखी से उस विषय की चर्चा छेड़ी, “क्यों रे छोटू, सुना है तू नट पहलवान के दरवाजे पर बैठा रहता है ! तुझे अपनी रोज़ी-रोटी का भी कुछ खयाल है ?”

मगर इस पर संतोखी की जो प्रतिक्रिया हुई, उसके लिए संचित जरा भी तैयार न था।

“तुमसे मतलब ! किसी से भी कोई मतलब ! मैं जहां चाहूँ जाऊंगा ?”

“दिन भर नटुआ पहलवान के घर बेगारी करते हो !”

“बाबू, देखो, चुप्पै रहो, हां !”

बेचारा संतोखी ! निचलाई रात में नटुआ पहलवान की ढोल पर तड़कती लकड़ी से जो आवाज़ उसके कानों में पड़ी, वह अपने आपको रोक नहीं सका। ढोल पर डिम-डिम-डिम-डिम की आवाज़ पक्के दो कोस दूर से यहाँ सिर्फ संतोखी के कानों आ रही थी। नूरचक गांव में जैसे और किसी के कान नहीं थे। बेचारा संतोखी !

दुबले-पतले शरीर पर वही पहलवानकट झुल्लदार लंबा-चौड़ा, ढीला-ढाला कुर्ता, नंगे पैर, कंधे पर लंबी वजनी लाठी—चल भाग सुलेमानपुर गांव की ओर। सावन की अंधियारी रात अकेला संतोखी, नटुआ की ढोल की आवाज़ उसे खींच रही थी। वह कितनी जल्दी पहुंचे सुलेमानपुर में नटुआ लहुरी के पास। हाथ राम, नटुआ लहुरी पहलवान खाट पर बैठा ढोल बजाता

आल्हा गा रहा होगा, उसकी जवान बेटा पहलवान के स्वर में स्वर मिला-
कर संगत कर रही होगी। हाय रे काली ! गजब मतवाली !

क्या जाने, देर हो जाने पर पहलवान आल्हा गाना बंद न कर दे। काली
को नौद न आने लगे। रास्ते में कछार का जंगल, रात को जंगली जानवर
रास्ते पर घात लगाकर बैठते हैं। रास्ते से ही चलकर कछार का पानी पीने
आते हैं। वह साला लकड़बग्घा कहीं घात में छुपा हुआ न हो। जंगल में
डर के मारे कभी आगे और कभी पीछे देखता-दौड़ता हुआ संतोखी
आगे बढ़ रहा था। समूची जंगल की राह वह अपनी छाती पर थूकता, राम
नाम लेता दौड़ रहा था। डर के मारे उसके सूखे मुंह से थूक निकल रहा
था, फिर भी संतोखी गुनगुनाता हुआ गाता जा रहा था :

“ओ काली माई डिवहारे बाबा
सम्मत माई देव असीस
लरिकैं जीयै लाख बरीस।
राम नाम लड्डू गोपाल नाम धिव
ले रे लकड़बग्घा मोर अंगूठा पिव !”

उस समय राह मानो खत्म ही नहीं होना चाहती थी। डोलक पर डिम-
डिम-डिम-डिम का संगीत और भी छाती बेध रहा था संतोखी की। अंत में
नटुआ लहुरी पहलवान के दरवाजे पर संतोखी हांफता हुआ जा पहुंचा।

उधर नटुआ पहलवान आज आल्हा-ऊदल की लड़ाई नहीं, आज बेला
का ब्याह गा रहा था। गांव के काफी लोग नटुआ के ओसारे में बैठे हुए
थे। नटुआ मस्त था आल्हा गायकी में संतोखी की नजर बस नटुआ पहल-
वान की जवान सुंदर बेटा काली पर जम गई।

काली जैसे-जैसे आल्हा गाती जा रही थी अपने पहलवान पिता के
साथ, संतोखी खमियां के पीछे अपना मुंह छिपाकर रोता जा रहा था। खुद
कोई अता-पता नहीं, बस, आंखों से आंसू अपने आप ढलक रहे थे।

यह पिछले साल बैसाख माह से हो रहा है संतोखी के साथ।

इससे पहले संतोखी ऐसे नहीं थे। मजाल क्या कि किसी औरत की
तरफ आंख उठाकर भी देख लें। तब उनके जीवन का एक ही सपना, एक

ही लक्ष्य था—पहलवान बनना, लठैत होना। इसके लिए अखंड ब्रह्मचर्य,
औरत की छाया भी न पड़े शरीर पर—ऐसा गुरुमंत्र दिया था गांव के
वयोवृद्ध पुलगुल बाबा ने—जो अपने गांव-जवार के काफी बड़े पहलवान
और मशहूर लठैत रहे थे अपने जमाने में। इसका नतीजा यह हुआ कि
बढ़ई जात के संतोखी बढ़ईगिरी छोड़कर बकरी चराने लगे। बकरियां
चराते। बकरियों का सारा दूध पी जाते और बकरी को बैचकर अन्न-पानी,
कपड़ा-लत्ता खरीदते। औरत की छाया न पड़े—इसके लिए अपने बड़े भाई
संचित से भी अलग होकर बांट-बखरा कर लिया। संचित की स्त्री
कपिली को भोजी कहकर पुकारना-बुलाना तक छोड़ दिया।

तब संतोखी को सिर्फ एक ही शौक था—नाच देखना, कहीं भी नाच
हो, चार-छह कोस के भीतर, संतोखी नाच देखने जरूर जाते। गांव का
कोई साथी हो, न हो, संतोखी पहलवानी बाना बनाये हुए कंधे पर चार
सेर का लट्ठ लिये नाच में हाजिर। रास्ते में चाहे नदी-नारा पर, चाहे
जंगल पर, चाहे आग बरस, चाहे पानी, चाहे पत्थर पर। संतोखी नाच
जरूर देखेंगे और रास्ते भर कुछ-न-कुछ अटरम-सटरम जरूर गाते जायेंगे।

बिना मोती के चैना पड़त नाहीं।

पिया संझवै से भितरी बुलावै

शरम मोरे आवै, वगैरह ! वगैरह !!

तो, बैसाख महीने के शुरू के दिनों की बात है। संतोखी कहीं से रात
भर नाच देखकर अपने गांव लौट रहे थे। रास्ते में वही सुलेमानपुर गांव
पड़ा। गांव के सिवान में गन्ने के खेत के पास एक दृश्य देखकर संतोखी
मंत्रमुग्ध हो गए। एक जवान लड़की से एक जवान की लड़ाई हो रही
थी—भयंकर मारपीट। गांव के सारे लोग तमाशा देख रहे थे। संतोखी
आश्चर्यचकित—हे भगवान, यह क्या हो रहा है ! लड़की जवान को दौड़ा-
दौड़ाकर मार रही है। अंत में जवान को पटककर उसके सीने पर पांव
रखकर कहती है, “बोल हरामजादे, फिर करेगा ऐसी हरकत मेरे साथ।
तुझे जिंदा ही चबा डालूंगी, अगर फिर मेरी तरफ आंख उठाकर देखा।”
गहरे सांवले रंग की वह लड़की—उसकी हिम्मत और बहादुरी देख-

कर संतोखी वहीं ठगा-सा खड़ा रह गया।

सब चले गए। खेल खतम हो गया। लड़की अपने खेत में जाकर हेंगे पर खड़ी होकर खेत हेंगाने लगी। जिस तरह बैलों को चटकारी देकर वह हेंगा मार रही थी, संतोखी उसे एकटक निहारता रह गया था।

मेड़ पर खड़ा-खड़ा न जाने कब संतोखी खेत में चला गया। हेंगे के पीछे-पीछे चलता हुआ खेत के घास-फूस बीन-बीनकर खेत के मेड़ पर रखने लगा। एक घसियारा उधर से आया और उससे पूछा, "कौन हो, भइया?"

संतोखी चुप रहा।

घसियारा बोला, "समझि लेव हां, नटुआ पहलवान की छोकरी है, जिसका कल्ला पकड़ लेती है, वह पानी मांगने लगता है, हां।"

संतोखी ने पूछा, "इसका नाम क्या है?"

"काली।"

"किसकी बेटी है?"

"लहुरी नट पहलवान की।"

"कौन-सा घर है पहलवान का?"

"ऊ देखो नरकुल के पास, जहां भैंस बंधी है।"

संतोखी ने खेत की घास को अपने अंगोछे में बांधा। नटुआ पहलवान के नेसुहा पर बैठकर चुपचाप घास काटने लगे। घास काटकर भैंस की हौदी में सानी करने लगे। नटुआ पहलवान डंड-बैठक लगा रहा था। बदन से पानी की तरह पसीना बह रहा था।

उधर नटुआ का ध्यान गया तो डांटकर पूछा, "कौन है रे?"

संतोखी ने पास आकर कहा, "महाराज, आपका शिष्य होना चाहता हूं।"

"कहां का रहने वाला है?"

"नूरचक गांव!"

"ओह, पुलपुल बाबा का गांव?"

"हां, उस्ताद!"

"क्या करते हो?"

"बकरी चराता हूं!"

"अच्छा, कपड़े उतारो, आ जाओ अखाड़े में।"

चारों तरफ देखकर बड़े डर और संकोच के साथ एक-एक कर संतोखी ने अपने बदन के कपड़े उतारने शुरू किये—ऊपर का झुल्लदार कुरता, फिर भीतर दो कुर्ते, फिर बनियाइन, नीचे कमर की धोती, फिर घुटन्ना, फिर लंगोट।

सिर्फ लंगोट पहने जैसे ही संतोखी ने लहुरी पहलवान के पैर छुए और लहुरी उसे आशीर्वाद देने लगा, उसी समय हेंगा सहित बैल लिये काली वहां आ पहुंची। तपाक से बोली, "यह कौन आ गया सींकिया पहलवान!"

और वह ठहाका मारकर हंस पड़ी।

संतोखी मारे लाज-शर्म के झटाझट कपड़े पहनने लगा।

काली पास आकर बोली, "उल्लू कहीं का!"

संतोखी की नजर उस क्षण जिस काली की आंखों में जा गड़ी, बस वहीं ही गड़ी रह गई, जैसे शहद में मधुमक्खी फंस जाये, जैसे राब-गुड़ में चिउंटा। तब से आज तक वही चल रहा है। तभी से संतोखी और काली की कहानी शुरू होती है, सचमुच तभी से।

राम कसम बिलकुल सच्चू!

हां, तो आल्हा गाते-गाते एक बार काली की नजर संतोखी की आंख से जा मिली। संतोखी झट अपने आंसू छिपाते हुए मुस्करा पड़ा।

आल्हा में बेला का ब्याह। बेला के ब्याह में इतनी जबरदस्त लड़ाई। संतोखी सोच रहा था, भला वह कैसे कहेगा नटुआ पहलवान से कि वह काली से ब्याह करेगा!

नटुआ उसे मारेगा?

अरे, नटुआ पहलवान की बात छोड़ो। काली क्या करेगी तब? वह भी क्या मारने दौड़ेगी? मारने दौड़ेगी तो दौड़े, मारे, लड़ाई होगी तो हो। बेला के ब्याह में अगर इतनी लड़ाई हुई है तो काली के साथ ब्याह कोई मुरई-गाजर है, सोचो भला, हां नहीं तो!

आधी रात के बाद चकपकिया तारे जब नरकुल के ऊपर आ गए तो आल्हा बंद हो गया। सब चले गए। संतोखी उसी काठ की खमिया के सहारे बैठा रहा। लहुरी पहलवान बोला, “अरे संतोखी, अब घर जा। घर नहीं जाएगा ?”

ऊं-ऊं करके संतोखी उसी तरह बैठा रहा। वह उसी तरह बैठे-बैठे सो जाएगा। खमिया से उसका सिर खिसककर जिधर जाएगा, वह उसी करवट जमीन पर सो जाएगा।

सच, उल्लू कहीं का !

लहुरी ने कहा, “अच्छा संतोखी, घर नहीं जाना तो भैंस के लिए थोड़ा संगहा काट दो।”

बरामदे में अंधेरा था। चिराग लेकर काली घर के अंदर चली गई थी। लहुरी नट बरामदे के कमरे में जाकर सो गया था। उस अंधेरे में संतोखी नेसुहे पर बैठकर गंडासे से संगहा काटने लगा। कुछ ही क्षणों बाद काली चिराग रखकर दरवाजे पर चुपचाप खड़ी रही। संतोखी एक नजर से काली को देखता, दूसरी नजर से संगहा काटता।

गंडासा थामकर संतोखी बोला, “जा, तू सो जा न ! जा न !”

“भक्क !”

काली जब ‘भक्क’ कहती है तो संतोखी का कलेजा धक्क-धक्क करने लगता है। आज जिस तरह से उसने ‘भक्क’ कहा है, संतोखी के सीने में जैसे बिच्छी ने सैकड़ों डंक मार दिए हैं। वह बोला, “भेरी कसम, जा तू आराम कर !”

काली बोली, “मुझे अंधेरे में डर लागै ! अंधेरे में नहीं सोऊं।”

“तो चिराग ले जा न !”

“नहीं, संगहा काट लो, फिर जाऊंगी।”

“अच्छा तो...”

“नाहीं तो अंधेरे में कहीं गंडासा लगि जाय !”

संतोखी ही-ही-ही-ही करके हंस पड़ा। न जाने किस शक्ति से वह चौगुने वेग से संगहा काटने लगा।

“ले, कट गया संगहा ! जा, अब सो जा !”

काली चिराग लिये चुपचाप अंदर चली गई। संतोखी बरामदे की खाट पर ठीक उसी जगह बैठा, जहां काली बैठी आल्हा गा रही थी। फिर उसी जगह अपना सिरहाना करके लेट गया। संतोखी के माथे में काली की खाट ‘मुझे अंधेरे में डर लागै...’ अंधेरे में नहीं सोऊं’ घुमड़ रही थी। अरे, बाप रे बाप, इतनी पहलवान, बहादुर लड़की को अंधेरे में डर लगता है। काली अंधेरे में नहीं सो सकती। अरे, काली को किसका डर ? डरते तो मर्द हैं उससे। कोई हिम्मत थोड़े ही करता है उसके पास आने की। सब दूर से बतकही करते हैं—जलकर खाक होते हैं—काली-कलूटी, मरद खोटी। आए कोई सामने आकर कहे। हिम्मत है इतनी किसी की डरते हैं लोग, तभी तो काली का अब तक ब्याह नहीं हुआ। काली का ब्याह माने बेला का ब्याह ! लोग झूठ-मूठ में उड़ाते हैं कि लहुरी पहलवान बेटी को ब्याहकर दूसरे घर विदा ही नहीं करना चाहता है। कोई ऐसा दामाद, जो उसके घर घरबैठा बैठ जाय ! पहलवान तो पहलवानी करता है। कुश्ती लड़ता है। दंगल लड़वाता है। आल्हा गाता है। खाता है और सोता है। खेती-बारी, भैंस-बखेरू काली देखती है। काली के बाद दो लड़के हैं अंगू, मंगू,—जुड़वां, छह साल के। काली की मां चैती को गठिया-बतास रोग ने पकड़ रखा है कई सालों से।

तो काली ही है सब कुछ। और काली की ही वजह से संतोखी है। दिन भर संतोखी नटुआ लहुरी के दरवाजे पर बिना कुछ खाये-पीये, अन्न-दाना के काम करता है। लहुरी जब भी पूछता है संतोखी से कि कुछ खा-पी ले तो वह दो ही उत्तर देता है, “खा-पीकर आया हूँ।” या “अभी कुल्ला-दातून नहीं किया हूँ। घर जाकर कुल्ला-दातून करूंगा, नहाऊंगा, तब...”

पर काली सब जानती है। सब समझती है। किस तरह संतोखी की बकरियों को एक-एक करके काली के बाप ने खाया है। जब-जब संतोखी की बकरी-बकरा का कलिया बना है पहलवान के घर में, काली ने कभी नहीं खाया है। क्या-क्या बहाने बनाये हैं उसने। कितनी बार बाप की मार भी खानी पड़ी है।

फागुन बीत रहा था, पर फगुनहट हवा बड़ी तेज बह रही थी उन

दिनों।

संतोखी का बड़ा भाई संचित जानता है कि जब संतोखी के घर में कुछ भी खाने को नहीं होता तो संतोखी अपने बड़े-बड़े बर्तन, पीतल के बटुले, बटलोई, थाल, थालियां, कटोरे गांव में लाला ठाकुर के घर गिरवी रखकर अपना काम चलाता है।

उन दिनों जब फगुनहट हवा बड़ी तेज बह रही थी, संतोखी अपनी लाठियों में से एक लाठी निकालकर ठाकुर के घर बेचने जा रहा था तो संचित ने संतोखी से कहा, "छोटू ! सुना है, तू लहुरी नटुआ के घर घरबैठा बैठने वाला है?"

संतोखी ने लाठी ज़मीन पर मारते हुए कहा, "किसकी हिम्मत है, जो मुझे घरबैठा बैठा ले ! हुआ?"

"अच्छा छोटू, तू नटुआ की लड़की को अपने घर लायेगा?"

"हां-हां, ब्याहकर लाऊंगा, ब्याहकर!"

"वाह रे वाह ! बड़े-बड़े बहे जायं, गदहा कहै कितना पानी !"

संतोखी ने लाठी तानकर पूछा, "तो मैं गदहा हूं, बड़कू?"

संचित ने हाथ जोड़कर कहा, "उसकी लड़की घर में न लाना।"

"क्यों ? किसी के बाप का डर है?"

"हां, डर है!"

संतोखी का मुंह सूख गया। उसकी भूख-प्यास मारी गई। वही लाठी कंधे पर ताने हुए सीधे सुलेमानपुर जाने लगा। नूरचक से सुलेमानपुर के बीच कछार का वह जंगल ही नहीं पड़ता था—मटेरा, पिलाई, दोहाद, कटहरी, सैनी गांव पड़ते थे। गांव के मुरहा मर्द संतोखी को देखकर कहते, "कहो भाई सीकिया पहलवान, कुर्ता के नीचे कुछ पहिने हौ कि नाहीं।"

लौंडें चिढ़ाकर भागते, "संतोखी कोखी, औरत है बड़ी धोखी। काली कलूटी, खसम फूटी। माई-माई भूख लगी, संतोखी के घर में ऊख लगी।"

मतलब, एक बार पूरा एक बीघा ऊख पहलवान को दे दिया था।

कोई कुछ कहै, संतोखी को कभी कोई चिंता नहीं रही, "कुत्ते भूकें अपने वास्ते, हाथी जाये अपने रास्ते।"

तो उस दिन संतोखी सीधे जाकर पहलवान से बोले, "सुनो उस्ताद, काली से मेरी शादी कर दो, नाहीं तो इसी लाठी से मेरा सिर फोड़ दो। अब और नहीं सहा जाता। मैं घरबैठा नहीं बैठूंगा, ब्याहकर अपने घर ले जाऊंगा, नहीं तो प्राण तज दूंगा।"

पछियाव का बहना थोड़ा थम गया था।

लहुरी पहलवान ने कहा, "मिरी बेटी से ब्याह करके उसे अपने घर ले जाओगे ? उसे संभाल सकोगे ? उसकी रक्षा करोगे ? उसे कभी कोई तकलीफ तो नहीं दोगे...?"

संतोखी पहलवान के कदमों पर सिर रखकर वचन देने लगा।

पहलवान ने कहा, "अच्छा, एक शर्त है।"

"शर्त मुझे मंजूर है।"

"अरे उल्लू का पट्टा, शर्त सुनी नहीं, शर्त मंजूर कर ली।"

"हां-हां, कोई शर्त हो!"

लहुरी पहलवान ने शर्त रखी कि आज आधी रात को संतोखी काली को अपने साथ लेकर अगर कछार का जंगल सही-सलामत पार कर ले तो अगले दिन शादी करके वह उसे अपने घर ले जाये।

संतोखी को पता था कि फागुन मास लगते ही कछार के जंगल रात में कोई नहीं आता-जाता। फागुन से जेठ मास तक कछार के जंगल में डाकू-लुटेरों का बास रहता है। फिर भी, क्या फर्क पड़ता है, संतोखी ने पहलवान की शर्त मान ली। काली को अपने साथ लिये हुए संतोखी ठीक आधी रात को कछार का जंगल पार करने लगा। कंधे पर वही लाठी। बदन पर वही झुल्लदार कुर्ता। जबान पर वही गाना।

—बिना मोती के चैना पड़त नाहीं।

जंगल के बीचोंबीच अचानक दो लट्ठधारियों ने उन्हें घेर लिया। लाठियां चलने लगीं। संतोखी ने लाठी चलाते हुए एक बार काली का मुंह देखा—उसके मुंह से निकला, "काली माई की जै!"

न जाने कहां की शक्ति संतोखी में आ गई थी। जिस पर उसकी लाठी पड़ती, वह भक्क से ज़मीन थाम लेता। दोनों की लाठियां तोड़ दीं संतोखी ने। दोनों लट्ठधारी ज़मीन पर गिरे थे। संतोखी ने पूछा, कौन हो तुम?

लोग ? क्या चाहते थे ?”

एक ने बताया कि नटुआ पहलवान ने उन्हें भेजा था।

“क्यों ?”

काली को उसने बताया, “संतोखी की हत्या के लिए।”

उसी क्षण काली को संग लिये हुए संतोखी सुलेमानपुर लौट आया। लहुरी पहलवान को जगाकर बोला, “हिम्मत हो तो तुम भी आ जाओ उस्ताद, मेरी जान लेना चाहते थे, उस माफिक थुड़ी है।”

लहुरी पहलवान ने उठकर संतोखी को गर्दनी देकर जमीन पर पटक देना चाहा। संतोखी ने छटककर उसके कल्ले पर लाठी दे मारी। फिर दोनों में लाठियां चलने लगीं। पहलवान की एक लाठी संतोखी के सीने पर लगी, वह गिर गया। उसके सीने पर पांव रखकर पहलवान उसे मारने चला, तभी उसके सामने काली गंडासा ताने दिखी।

लहुरी पहलवान अपनी उस बेटी को निहारता ही रह गया। काली की आंखों में इतना खून ! इतने आंसू !

दूसरे दिन पहलवान के दरवाजे पर बड़े धूमधाम से संतोखी और काली की शादी हुई। तीसरे पहर संतोखी अपनी पत्नी को विदा करवाकर पैदल अपने घर ले चला।

आगे आगे दौरी, दफला, वांसुरी बजाते हुए दो आदमी। पीछे-पीछे दुल्ला-दुल्हन—संतोखी-काली।

अपने नूरचक गांव में आकर संतोखी ने सारी भीड़ के सामने ऐलान किया, “सब लोग कान खोलकर सुन लें। छोटकवा-बड़कवा कोई भी हो—लाट-गवन्नर भी क्यों न हो—किसी को मेरे घर आने-जाने की जरूरत नहीं है। जो मेरी औरत की तरफ आंख उठाकर देखेगा, उसकी आंख फोड़ दूंगा।”

दुल्हन ने संतोखी के घर में आकर देखा—घर बिलकुल सूना-खाली है। घर में न कोई बर्तन-भांडा है, न कोई अन्नदाना। एक चिराग तक नहीं है। घर के बाहर ताला लगाकर अपनी सारी लाठियां लिये संतोखी उन्हें बेचने गया था।

जीवन भर की संभालकर बनायी, रखी हुई वे उम्दा लाठियां कुल

पैंतीस रुपये में बिकीं। तेल-फुलेल, अन्न-मसाला, मिठाई सब कुछ लिये हुए संतोखी आया।

घर खोलकर अंदर गया तो घर में चिराग जल रहा था। चूल्हे पर भोजन बन रहा था।

संतोखी सन्न रह गया।

“ई सब कहां से मिला ? बोल, कैसे आया सब ?” काली ने अपने माथे पर से जरा-सा घूंघट हटाकर बताया कि तेल-माचिस बड़कू के घर से आया है। लकड़ी-कंडा, बर्तन ललाइन ने भिजवाया है।

“भगर यहां आया कैसे ?”

काली ने आंचल के कोर को दांतों तले दबाकर कहा, “दीवार फांदकर मैं ही गई थी।”

संतोखी के बदन में जैसे आग लग गई। वह अपने हाथ की चीजों को फेंकते हुए मारे गुस्से से बोला, “खबरदार, अगर फिर तूने इस तरह घर से पांव निकाला। काटकर रख दूंगा। खबरदार, फिर कभी किसी से कुछ मांगा। मार-मारकर तेरी हड्डी-पसली एक कर दूंगा। अरे तू हंसती क्या है पिकर पिकर ! मुझे किसी से डर है क्या ! चली जा मेरी आंखों के सामने से ! दूर हो जा। मुझे समझती क्या है !”

काली ने बिखरी हुई चीजों को समेटकर उन्हें जतन से घर में रखा। संतोखी को भोजन कराया।

जमीन पर बिस्तर बिछा देखकर संतोखी ने कहा, “कल पलंग बनाऊंगा तेरे लिए, अपने हाथों से। देख ऊ रखा है बसुला, आरी, औजार, शीशम की लकड़ी। रस्सी बटके रखी है।”

संतोखी ने लजाते हुए कहा, “हे रे, चिराग जलता रहेगा कि...”

“भवक।”

“भवक क्या ?”

“अधरे मा डर लागी।”

दोनों बिस्तर पर सो गए। काली को झट नींद आ गई। संतोखी की आंखों से नींद बिलकुल गायब थी। वह करवट बदलकर कभी अपनी दुल्हन का रूप देखता, कभी सहमा-सहमा कान उचरे गांव-घर के सन्नाटे में कुछ

सुनने लगता। कितनी आवाजें, कितने चेहरे, लोग-बाग।

काफी रात गए काली की नींद टूटी। देखा तो बिस्तर पर 'वह' नहीं है। उठकर इधर-उधर ढूँढ़ा। दरवाजा बाहर से बंद है। दीवार फांदकर काली बाहर आई। देखा, संतोखी कंधे पर लाठी लिये अपने घर के चारों ओर पहरा दे रहा है।

काली ने चुपके से पति को पकड़कर कहा, "किसके लिए पहरा दे रहे हो?"

"बहुत डर लग रहा है रे!"

"अब कैसा डर?"

"भक्त!"

संतोखी का हाथ पकड़े काली अपने घर में आई। भीतर से घर बंद कर लिया। बोली, "हे हो, घर मोहब्बत है, जिसकी कुंडी भीतर से बंद होती है।"

"चिराग बुझा दूं?"

"नाहीं, अंधेरे मा डर लागै हो।"

आनेवाला कल

पिछले कई दिनों से काले, भूरे बादल गरजकर रह जाते। आज दोपहर से वर्षा हुई थी। घनघोर वर्षा। आंधी पहले आई थी।

महावीर को हलका-सा बुखार था। भीतर आंगन के बरामदे में खाट पर मुंह ढाँपे वह पड़ा था। अचानक उसे लगा कोई धड़ाक से बाहर का दरवाजा खोलकर अंदर घुसा है। सिर उठाकर उसने आंगन में देखा, वर्षा अब बिलकुल थम गई थी और आंगन के पार बरामदे में कोई छिपा खड़ा था।

"कौन?...कौन है?"

सिर्फ एक मीठी-सी हंसी सुनाई दी।

"कौन है रे?"

वह दौड़कर आंगन में चली आई। वर्षा से बिलकुल सराबोर थी। रह-रहकर हंस पड़ती। लाज के मारे कुछ बोला नहीं जा रहा था।

"क्या बात है रे, गंगा?"

"कछू नहीं।"

फिर वही चहक-चांदनी-सी हंसी। वह आंगन में जैसे नाचती हुई ऊपर देखती, फिर महावीर की ओर तकने लगती। वह खाट पर उठकर बैठ गया था।

"क्या है, बताती क्यों नहीं?"

"आज बिलकुल सराबोर हो गई।"

“वह तो देख रहा हूँ।”

“आज तोहार चेहरा मोरे सामने...”

महावीर चुप रह गया। वह बड़ी गंभीर नज़र से गंगा को देखने लगा। पूछा, “रामनाथ कहां मिला?”

“बस, हम दोनों आज...” यह कहकर वह भागने लगी। महावीर उठ खड़ा हुआ।

“कहां है वह?”

वह बच्चों की तरह बोली, “तू ही तो कहे रह्यो, सब समान हैं, बराबर हैं।”

“पर...”

“हमें केहू के डर नाहीं बाय, हां!”

गंगा हवा के तेज झोंके की तरह बाहर निकल गई। अपने पीछे महावीर को गंभीर बनाकर। एक ओर उसका दिल और दिमाग तेज सुगंध से भर रहा था, दूसरी ओर वह तड़प रहा था। उसका बुखार गायब था।

महावीर क्षत्रिय युवक था। घर में बड़े भाई, भाभी और विधवा मां थी। वह पूरा गांव जवार जात-पांत, छूत-अछूत, नीच-ऊंच के बंधनों में बुरी तरह जकड़ा हुआ था। लोगों के अंधविश्वासों और परंपरागत जड़ताओं को महावीर जन्म से लेकर आज तक किसी तरह झेल रहा था। बी० ए० तक पढ़कर, फिर भी गांव में रहकर खेती करने पर उसे अपने घर-परिवार, नाते-रिश्तेदारों से लेकर पूरे गांव-जवार तक की बातें सुननी पड़ी थीं।

पिछले वर्ष की घटना है। गांव के ब्राह्मण-ठाकुरों ने मिलकर चमार टोला पर धावा बोला था। दो घरों में आग लगानी चाही थी। अकेले महावीर ने सवर्णों की उस बर्बरता और अन्याय का विरोध किया था। हरिजनों के साथ उसने कहा था, “ये भी हमारी तरह मनुष्य हैं। इन्हें बराबरी का अधिकार है। ये मेहनत-मजदूरी करने वाले लोग उन सवर्णों, ऊंचे लोगों से कहीं ज्यादा श्रेष्ठ हैं। सब समान हैं। अब इन्हें कोई दवा नहीं सकता।”

महावीर की इन बातों का हरिजन टोला की युवती गंगा पर यह असर

पड़ेगा, उसे इतनी कल्पना नहीं थी। गंगा पदारथ शुकुल के लड़के रामनाथ से प्रेम कर बैठी है, इसका अंजाम क्या होगा, वह सोचकर कांप गया। इस तरह की कई घटनाएं उसके सामने कौंध गईं। कोई जहर खाकर मर गई। कोई पेट छिपाने के लिए कुएं में कूद पड़ी। कोई मारपीट सहकर बह गई। किसी को गांव से ही उजड़कर चला जाना पड़ा...

रात को महावीर एकांत में रामनाथ से मिला। सीधे स्पष्ट ढंग से पूछा, “सच-सच बताओ—गंगा से तुम्हें प्यार है? देखो, अब इसमें किसी तरह के संकोच की गुंजाइश नहीं। बताओ।”

उसने स्वीकार किया, “हां, है।”

“गांव की पंचायत में इसे कह सकते हो?”

“हां, पर...लेकिन...”

“वक्त आने पर गंगा से शादी कर सकते हो?”

“हां, पर...सुनो लेकिन...”

“पर क्या?”

“हिम्मत नहीं पड़ती। न जाने क्यों डर लग रहा है। दादा मुझे घर से निकाल देंगे और...”

रामनाथ का सारा मुंह पसीने से भीग गया। उसके हाथ कांपने लगे। महावीर ने उसका दायां हाथ पकड़कर कहा, “यार, डरपोक भी कहीं प्यार करता है! मुझसे भी बात करने में इतना डर?”

उसके मुंह से निकला, “महावीर भइया, मुझे तो लगता है, यह प्यार-मुहब्बत बहुत कमजोर बना देता है।”

“पर कायर नहीं।”

रामनाथ मुंह देखने लगा। कुछ देर बाद जैसे हिम्मत बटोरकर बोला, “दादा इतने गुस्सैल हैं! बेरहम, निर्दयी हैं—गंगा को मारकर उसकी लाश तक लापता करवा देंगे।”

महावीर एकटक उसका मुंह निहार रहा था। रामनाथ सिर झुकाये कहता जा रहा था, “दादा यह कभी नहीं बर्दाश्त कर सकते कि उनका एकलौता लड़का गंगा चमाइन से शादी करे। हां, वह रखल रख सकता है। चोरी-छिपे जो चाहे कर सकता है। इस गांव में यही तो होता रहा है।

“वह तो देख रहा हूँ।”

“आज तोहार चेहरा मोरे सामने...”

महावीर चुप रह गया। वह बड़ी गंभीर नज़र से गंगा को देखने लगा। पूछा, “रामनाथ कहां मिला?”

“बस, हम दोनों आज...” यह कहकर वह भागने लगी। महावीर उठ खड़ा हुआ।

“कहां है वह?”

वह बच्चों की तरह बोली, “तू ही तो कहे रह्यो, सब समान हैं, बराबर हैं।”

“पर...”

“हमें केहू के डर नाहीं बाय, हां!”

गंगा हवा के तेज झोंके की तरह बाहर निकल गई। अपने पीछे महावीर को गंभीर बनाकर। एक ओर उसका दिल और दिमाग तेज सुगंध से भर रहा था, दूसरी ओर वह तड़प रहा था। उसका बुखार गायब था।

महावीर क्षत्रिय युवक था। घर में बड़े भाई, भाभी और विधवा मां थी। वह पूरा गांव जवार जात-पांत, छूत-अछूत, नीच-ऊंच के बंधनों में बुरी तरह जकड़ा हुआ था। लोगों के अंधविश्वासों और परंपरागत जड़ताओं को महावीर जन्म से लेकर आज तक किसी तरह झेल रहा था। बी० ए० तक पढ़कर, फिर भी गांव में रहकर खेती करने पर उसे अपने घर-परिवार, नाते-रिश्तेदारों से लेकर पूरे गांव-जवार तक की बातें सुननी पड़ी थीं।

पिछले वर्ष की घटना है। गांव के ब्राह्मण-ठाकुरों ने मिलकर चमार टोला पर धावा बोला था। दो घरों में आग लगानी चाही थी। अकेले महावीर ने सवर्णों की उस बर्बरता और अन्याय का विरोध किया था। हरिजनों के साथ उसने कहा था, “ये भी हमारी तरह मनुष्य हैं। इन्हें बराबरी का अधिकार है। ये मेहनत-मजदूरी करने वाले लोग उन सवर्णों, ऊंचे लोगों से कहीं ज्यादा श्रेष्ठ हैं। सब समान हैं। अब इन्हें कोई दवा नहीं सकता।”

महावीर की इन बातों का हरिजन टोला की युवती गंगा पर यह असर

पड़ेगा, उसे इतनी कल्पना नहीं थी। गंगा पदारथ शुकुल के लड़के रामनाथ से प्रेम कर बैठी है, इसका अंजाम क्या होगा, वह सोचकर कांप गया। इस तरह की कई घटनाएं उसके सामने कौंध गईं। कोई जहर खाकर मर गई। कोई पेट छिपाने के लिए कुएं में कूद पड़ी। कोई मारपीट सहकर बह गई। किसी को गांव से ही उजड़कर चला जाना पड़ा...

रात को महावीर एकांत में रामनाथ से मिला। सीधे स्पष्ट ढंग से पूछा, “सच-सच बताओ—गंगा से तुम्हें प्यार है? देखो, अब इसमें किसी तरह के संकोच की गुंजाइश नहीं। बताओ।”

उसने स्वीकार किया, “हां, है।”

“गांव की पंचायत में इसे कह सकते हो?”

“हां, पर...लेकिन...”

“वक्त आने पर गंगा से शादी कर सकते हो?”

“हां, पर...सुनो लेकिन...”

“पर क्या?”

“हिम्मत नहीं पड़ती। न जाने क्यों डर लग रहा है। दादा मुझे घर से निकाल देंगे और...”

रामनाथ का सारा मुंह पसीने से भीग गया। उसके हाथ कांपने लगे। महावीर ने उसका दायां हाथ पकड़कर कहा, “यार, डरपोक भी कहीं प्यार करता है! मुझसे भी बात करने में इतना डर?”

उसके मुंह से निकला, “महावीर भइया, मुझे तो लगता है, यह प्यार-मुहब्बत बहुत कमजोर बना देता है।”

“पर कायर नहीं।”

रामनाथ मुंह देखने लगा। कुछ देर बाद जैसे हिम्मत बटोरकर बोला, “दादा इतने गुस्सैल हैं! बेरहम, निर्दयी हैं—गंगा को मारकर उसकी लाश तक लापता करवा देंगे।”

महावीर एकटक उसका मुंह निहार रहा था। रामनाथ सिर झुकाये कहता जा रहा था, “दादा यह कभी नहीं बर्दाश्त कर सकते कि उनका एकलौता लड़का गंगा चमाइन से शादी करे। हां, वह रखल रख सकता है। चोरी-छिपे जो चाहे कर सकता है। इस गांव में यही तो होता रहा है।

चमाइन, शूद्र औरतें, जवान बहुएं, लड़कियां बड़कवा के घरों में काम-काज करने आती रही हैं। बड़कवा लोग जो चाहें उनके साथ करते रहे हैं।”

महावीर ने पूछा, “अगर तुम्हें इतना भय था और तुम इनने कमजोर हो तो गंगा से इस तरह संबंध क्यों जोड़ा ?”

“इसका मैं कोई जवाब नहीं दे सकता।”

“तुम दसवीं कक्षा तक पढ़े हो, जवान हो, स्वस्थ हो।”

“हां, सब हूं, पर...”

“पर क्या ?”

“किसी तरह का अन्याय नहीं चाहता।”

महावीर को हंसी आ गई। वह उसे अपने संग लिये घर लौट आया। सावन के दिन थे। आमने-सामने खाट पर बैठकर महावीर ने कहा, “जो दे सकने लायक नहीं, उसे किसी से कोई संबंध जोड़ने का अधिकार नहीं।”

रामनाथ की आंखों से आंसू बहने लगे। रंधे कंठ से वह बोला, “मैं गंगा के बिना नहीं रह सकता। वह नहीं तो मैं नहीं।”

“पर इसके लिए उपाय करोगे या...”

रामनाथ सिर झुकाये चुप था।

तीसरे दिन रामनाथ सुबह-सुबह महावीर से मिला। बोला, “अगर तुम मेरी एक मदद कर दो तो आगे मैं हिम्मत कर जाऊंगा। तुम मेरे दादा से इतना कह दो कि गंगा के बिना अब रामनाथ नहीं रह सकता।”

“ठीक है, दादाजी कह देंगे कि गंगा को रखल रख लो।”

रामनाथ बोला, “नहीं, उन्हें बता दो कि रामनाथ गंगा से शादी करेगा।”

“ठीक है, मैं दादा से कह दूंगा।”

कई दिन बीत गए। दादा से किसी ने कुछ नहीं कहा। और एक दिन गांव में खबर फैली कि महावीर शहर में नौकरी करने जा रहा है।

गंगा ने पूछा, “क्यों भइया, ई बात सही है कि तू हमें छोड़ के शहर जाइ रहे हो !”

“हां, सही है। कल ही जा रहा हूं।”

“भला क्यों ?”

महावीर ने हंसकर कहा, “ताकि तुमको वह मिल जाय। उसे तुम मिल जाव।”

“सच्ची !”

“हां, बिलकुल सच्ची !”

रामनाथ के सारे प्रश्नों के उत्तर में महावीर ने सिर्फ इतना कहा, “दोस्त, बुरा नहीं मानना। मेरी इस बात पर ध्यान देना। हर सुनने वाला यह जानना चाहता है कि कहने वाले की कीमत क्या है !”

रामनाथ ने कहा, “भाई, तुम्हारी इस गांव में कीमत है !”

“पर इतनी नहीं है कि तुम्हारी उतनी बड़ी बात मैं तुम्हारे दादा से पूरे विश्वास के साथ कह सकूं।”

गंगा से विदा होते हुए उसने रामनाथ से कहा, “जब तक मैं न लौटूं, गंगा से उस तरह मिलना-जुलना नहीं। मैं जल्दी लौटूंगा, तुम्हें खत दूंगा।”

पूरा साल बीत गया, शहर से महावीर का कोई खत-पत्र नहीं आया। बस, यही खबर इधर-उधर से बराबर मिलती रही कि महावीर कानपुर शहर में किसी मिल में काम कर रहा है, बड़ी इज्जत और तरक्की हासिल की है।

अपने हालात और गंगा की परिस्थितियों से विवश होकर रामनाथ एक दिन कानपुर में महावीर के पास आ पहुंचा। इस नए महावीर को देखकर वह आश्चर्यचकित रह गया।

दिन में महावीर कपड़े की मिल में काम करता है। शाम के वक्त कॉलेज जाता है पढ़ने। रात को अपने हाथ से भोजन बनाता है। किराये की एक तंग कोठरी में रहता है। रात को भोजन करके ठीक दस बजे मिल-मालिक की एकलौती लड़की की, जो मिल की एक संचालिका है, कुछ सहायता करने जाता है।

एक दिन रात को महावीर ने रामनाथ से कहा, “ये छह हजार रुपये मैंने तुम्हारे लिए बचाकर रखे हैं। ये रुपये लेकर गांव लौट जाओ। तुम्हारे बाप-दादा का गांव में जो टूटा शिवाला है, इन रुपयों से उन्हें नया बना दो।”

रामनाथ कुछ रुककर बोला, “तुम्हारी इतनी गाढ़ी कमाई से उस टूटे हुए मंदिर का उद्धार ! मेरी समझ में नहीं आया।”

“अच्छा, तुम क्या करना चाहोगे इन रुपयों से ? समझो ये तुम्हारे हैं।”

रामनाथ के मुंह से निकला, “इन रुपयों से गांव के चमारटोला में सबके नए घर बन सकते हैं—ऐसे घर, जहां वे इंसान की तरह रह सकें।”

महावीर ने कहा, “आज लगा, तुम सचमुच गंगा को प्यार करते हो !”

उसकी आंखें भर आईं। उसने महावीर का हाथ पकड़कर कहा, “अब गांव चलो। दादा से मेरी वह बात कहो।”

एक अजब खामोशी छा गई। कुछ क्षण बाद महावीर ने वह खामोशी तोड़ी, “जो बात मैं तुमसे तब नहीं कह पाया, आज कहता हूँ, सुनो। किसी दूसरे के कहने से कहीं कुछ नहीं होता। अपनी बात स्वयं कहनी होती है। कोई किसी की मदद नहीं कर सकता। खुद अपनी मदद करनी होती है। मैं जैसे-जैसे तुम्हारी मदद के लिए रुपये बचा-बचाकर रखता रहा, वैसे-वैसे मेरे सामने यह साफ होता रहा—यह सब तुम्हारा भ्रम है। तुम हो कौन ? क्या हो ? कोई किसी की मदद नहीं कर सकता। कोई किसी की बात नहीं कह सकता। सबको अपनी-अपनी जिम्मेदारी खुद पूरी करनी होगी। अपने-अपने विश्वास के लिए खुद मरना-जीना होगा।”

पूरे छह हजार रुपये उस तंग कोठरी के फर्श पर बिखरे पड़े थे। महावीर शांति से सो गया था। रामनाथ की पलक तक नहीं झपी थी। उसकी आंखों में गंगा, दादा, महावीर की तसवीरें तैर रही थीं।

कई दिनों बाद महावीर ने अचानक देखा, सड़क बनाने वाले मजदूरों के साथ रामनाथ काम कर रहा है।

कुछ दिनों बाद एक दिन देखा—रामनाथ रिक्शा चला रहा है। उस दिन उसे रोककर महावीर ने कहा, “मैं कल गांव जा रहा हूँ। मेरे साथ चलो। अब मैं तुम्हारे दादा से...”

रामनाथ ने तत्काल रोकते हुए कहा, “नहीं, अब नहीं। तुम चलो।”

मैं अगले महीने के अंत में आऊंगा।”

गांव में दादा के दरवाजे पर पंचायत बैठी थी। दादा चमारों पर आम-बबूला थे। महावीर चुपचाप बैठा था। उसके कानों में दादा की जहरीली बातें आग बरसा रही थीं।

अभी कल ही रामनाथ गांव लौटा है। सबसे पहले महावीर ने देखा। फिर सबकी आंखें उठ गईं गंगा के साथ आते हुए रामनाथ की ओर। पंचायत के सामने उसने अत्यन्त विनम्र, पर निश्चित स्वरों में कहा, “दादा, मैं गंगा का हूँ। गंगा मेरी है।”

“क्या कहा ?”

दादा के क्रोध-भरे स्वर कांपे। रामनाथ ने फिर थम हुए स्वर में कहा, “मैं और गंगा...”

उसकी लड़की

सरकारी जीप से उतरकर माधवी ने अपने फ्लैट की ओर देखा। पहली मंजिल के उस फ्लैट के बरामदे में वही खड़ी दिखी।

चंदी, तेरह साल की लड़की—फ्राक पहने। माधवी के घर में रहने वाली एक लड़की। जब भी माधवी चंदी को इस तरह बरामदे में खड़ी बाहर निहारती हुई पाती है, उसे निहायत बुरा लगता है। उसका चेहरा तमतमा जाता है। क्योंकि बार-बार इसके साथ ही अतीत का वह बेहूदा दृश्य भी उसके सामने खिंच जाता है। पुलिस को साथ लिये माधवी ने उस मुहल्ले के कोठे पर 'रेड' किया था। कमरे में सितारा के अलावा और कोई नहीं मिला था। न कोई ग्राहक, न आसपास कोई दलाल। माधवी को सितारा ने जबरन उस दिन अपने सामने बिठा लिया था। इसी चंदी को, तब यह छह साल की रही होगी, इसके बालों में चोटी करते हुए तब सितारा ने कहा था, "इसे देखकर कोई कहता कलमुंही, कोई कहता करमफूटी—और यह शर्म, डर के मारे आज तक इस कोठे से बाहर नहीं गई। आज यह छह साल की हो गई। जिस दिन यह जनमी थी, उसी दिन इसके अब्बा तेज्र भागती हुई रेलगाड़ी से कूदकर मरे थे।"

माधवी के मुंह से तब पूरी कहानी सुनकर सिर्फ यही निकला था, "सात रुपये में शौहर खरीदने से यही होता है। बता, देख न, तुझे क्या मिला? भगवान जाने, हमारे समाज में औरतें इतनी बेवकूफ क्यों होती हैं?"

न जाने किस बात पर सितारा ने अपनी उस बेटी चंदी को गोद में बिठाकर कहा था, "जिसके दाम न लगे, उसे बेशकीमती कहते हैं। आप तो सरकार की इतनी बड़ी अफसर हैं, हमारा कल्याण चाहती हैं, आपसे किसका क्या छिपा है? आप यहां सारे कोठों की छानबीन कर देखिए—कोई रंडी-पतुरिया ऐसी है, जिसे मेरी तरह यह अमूल्य धन मिला हो!"

वही अमूल्य धन यह चंदी है—बदमाश बेशरम...।

फ्लैट का दरवाजा खोलकर चंदी किवाड़ के पीछे छिप गई थी। गुस्से से खींचकर उसे दो झापड़ मारे—बिलकुल उसके मुंह पर। होंठ से खून वह निकला।

"जा मुंह साफ कर। खड़ी-खड़ी क्या देख रही है?"

सिसकती हुई वह अंदर चली गई। तब तक माधवी के दोनों बच्चे रतन और मीनू अपने-अपने कमरे से दौड़े हुए आए, मां के अंक से लिपट गए। माधवी कई दिनों के दौरे के बाद घर लौटी थी। ड्राइंग रूम में बैठकर आठ साल की मीनू और तेरह साल के रतन को चूम-चूमकर प्यार करने लगी। मीनू के लिए कपड़े। रतन के लिए फाउंटेनपेन, मिठाई।

ट्रे में चाय लिये चंदी आई। टेबल पर रखकर मेम साहब द्वारा लाये हुए सामान की ओर निहारने लगी।

"नालायक कहीं की, इत्ती देर से चाय ले आई।" चंदी का ध्यान मीनू के लिए आए उन कपड़ों पर था।

"जा, बाथरूम ठीक कर, नहाऊंगी। जा, खड़ी क्या देख रही है? नालायक कहीं की, तेरी आदत है हर वक्त घूरते रहने की।"

चंदी जाने लगी कमरे से बाहर। माधवी ने बढ़कर उसके कान उमेठ लिये—वह दर्द के मारे फर्श पर बैठ गई।

"बता, बाहर बरामदे में खड़ी क्या देख रही थी? किसने निहारने के लिए तू बाहर खड़ी होती है? किन्ती बार तुझे मना किया है, बेहया की तरह बाहर मत खड़ी हो, पर बेशरम तू..."

अचानक उसी समय कमरे में माधवी के पति सतपाल का प्रवेश हुआ। चंदी को मारने के लिए उठा हुआ हाथ रुक गया।

चंदी भाग गई।

चाय बनाते हुए माधवी ने सतपाल से कहा, “इस बार मेरा दौरा बहुत सफल रहा। कानपुर और मेरठ में जितने ‘रेड’ हुए सब में लड़कियाँ पकड़ी गईं। एक रंडी के कमरे में सात भोली-भाली लड़कियाँ बरामद हुईं। सबको वहाँ से निकालकर मैंने महिला रक्षा-भवन में रखवा दिया है। वहाँ उन्हें दस्तकारी का काम सिखाया जाएगा। फिर अपनी-अपनी ज़िंदगी में लग जाएंगी। कानपुर में कुल सोलह ऐसी लड़कियाँ पकड़ीं मैंने, जिन्हें नाजायज़ तरीके से तीन अलग-अलग मकानों में छिपाकर रखा गया था। कुछ लड़कियाँ बिहार के रांची इलाके से खरीदकर लाई गई थीं। कुछ मध्य प्रदेश के मालवा इलाके की थीं। कुछ को नारी निकेतन...”

अचानक माधवी को याद आया ये सारी बातें वह बच्चों के सामने क्यों कह रही है? इनका बुरा असर बच्चों पर पड़ सकता है। तत्काल बच्चों को लेकर कमरे से बाहर निकल गई।

थोड़ी-सी देर बाद नहा-धो, बिलकुल सजी-धजी माधवी ड्राइंग रूम में लौटी। तब तक पति महोदय चुपचाप बैठे चाय पी रहे थे।

आते ही माधवी बोली, “तुम्हें मना करना चाहिए मुझे, जब मैं तुमसे वे सारी बातें बता रही थी, तुम या तो बच्चों को किसी बहाने कमरे से बाहर कर देते या मुझे ही टोक देते।”

सतपाल ने एक घूंट चाय पीकर कहा, “मैंने तुम्हें जब भी किसी बात के लिए टोका है, तुमने हमेशा बहुत बुरा माना है।”

“फिर भी तुम्हें टोकना चाहिए। यह तुम्हारा फर्ज है।”

“मतलब मैं घर में खामखाह महाभारत शुरू करूँ।”

“इसमें महाभारत की क्या बात है?”

कमरे में एक चुप्पी छा गई। सतपाल ने कहा, “तुम समाजशास्त्र, मनोविज्ञान की इतनी जानकार हो, तुम्हारे इतने सारे लेख पत्र-पत्रिकाओं में छपते हैं, तुम जगह-जगह नारी-कल्याण, नारी मुक्ति, शिशु मनोविज्ञान पर इतने सारे भाषण देती हो, इतने सारे कार्य करती हो, मैं तुम्हें क्या समझाऊँ?”

माधवी ने गम्भीर मुख से कहा, “तुम समझ नहीं सकते, मुझे टोक तो सकते हो!”

“टोका उसे जाता है जो नासमझ और अज्ञान हो!”

“अच्छा, चुप रहो, मैं बहुत थक गई हूँ।”

यह कहकर माधवी आंखें मंद वहीं सोफे पर लेट गई।

“चलो, बेडरूम में आराम करो न!”

लेटी-लेटी माधवी बोली, “इस लड़की चंदी को अपने घर में लाकर मैंने गलती की।”

“गलती क्यों की?”

“गलती की।”

सतपाल ने कहा, “तुम्हारा तो विश्वास है, अच्छी अनुकूल परिस्थिति में इंसान अच्छा बेहतर होता है। जैसी स्थिति होती है, वैसा ही होता है इंसान। अगर बुरी, गंदी परिस्थिति में लड़की पली है तो वह गंदी-बुरी होगी। सारा कुछ आर्थिक-सामाजिक परिवेश होता है। इंसान अपने परिवेश की उपज है। परिवेश का गुलाम है।”

“हां, यह बिलकुल सच है।”

सतपाल के मुंह से निकला, “सच केवल प्यार है। जिस बच्चे को प्यार और विश्वास नहीं मिला, उसे कितनी भी अच्छी सामाजिक, आर्थिक परिस्थिति में रखा जाय, वह कभी भी अच्छा, बेहतर और स्वस्थ नहीं होगा।”

“तुम कहना क्या चाहते हो?”

सतपाल चुप था।

“चंदी को इस घर में किस चीज़ की कमी है?”

सतपाल कमरे से उठकर चुपचाप चला गया। कपड़े बदलकर अपने कमरे में कुछ देर आराम करता रहा। चंदी किचन में बर्तन धो रही थी। दोनों बच्चे बाहर लॉन में बैडमिंटन खेल रहे थे।

दरवाजे पर कालबेल बजी। सतपाल ने जाकर दरवाजा खोला। मिस राधा शर्मा, माधवी की स्टेनो पर्सनल सेक्रेटरी थी। बाहर के बरामदे वाले कमरे में बिठाते हुए सतपाल ने कहा, “साहब आराम कर रही हैं, थोड़ी देर यहीं इंतज़ार कीजिए।”

मिस शर्मा ने बताया—कोई ज़रूरी चीज़ लिखवानी है उन्हें। कल

महिला कल्याण समिति की बैठक है, बाहर से महिला सोशल वर्कर्स आ रही हैं।

सतपाल वहीं अलग कुर्सी पर बैठा उस दिन का अखबार पढ़ने लगा। मिस शर्मा अपने लंबे नाखूनों पर पालिश करने लगीं।

थोड़ी-सी देर बाद माधवी ने आकर मिस शर्मा को 'डिक्टेशन' देना शुरू किया, "नारी कल्याण बिना मानवता सम्भव नहीं। जब तक कहीं एक भी नारी का शोषण, दमन, असमानता, अन्याय है तब तक मानव विकास नहीं हो सकता। विकास केवल स्वतंत्रता और समानता में ही संभव है। लेकिन सच्ची स्वतंत्रता की कल्पना स्वतंत्र समाज के बगैर असंभव है। स्वतंत्रता के मतलब हैं, बल्कि उसके प्रमुख तत्व हैं शोषण और दमन से स्वतंत्रता..."

सतपाल से वहां और आगे बैठा न गया। उठकर वह फ्लैट से बाहर सड़क पर घूमने लगा। अचानक उसे एक बात पकड़ में आई—विचार और व्यवहार में आज जो इतना अंतर है, वही है मूल कारण सारे शोषण और अन्याय का। बातें इतनी ऊंची-ऊंची और कर्म इतने छोटे, व्यवहार इतने अन्यायपूर्ण और खासकर उसी के द्वारा, जो अन्याय, शोषण, पतन के खिलाफ लड़ रहा हो। तभी सतपाल के हाथ एक नई चीज़ लगी—यह तो नौकरी है, लड़ाई कहां है? लड़ाई नौकर नहीं लड़ता, वह उसकी बातें करता है। और केवल बातें करने वाला अपने व्यवहारों से वही अन्याय वही शोषण करता है, जिसके खिलाफ उसे होना चाहिए।

रात घिर आई। सतपाल चुपचाप घर लौटा तो पाया कि माधवी किचन के बाहर खड़ी चंदी को बेतरह मार रही थी। एक बार तो उसका मन हुआ कि वह माधवी से आज साफ-साफ कह दे कि वह चंदी को ले जाकर उसी कोठे पर छोड़ आए। पर तभी उसे याद आया—चंदी की मां सितारा भी अब जिंदा नहीं है। वह कोठा भी नहीं है जहां ऐसी अभागिन लड़कियों को पनाह मिलता था। वहां अब उस पूरे मुहल्ले को तोड़कर नारी कल्याण का एक बहुत बड़ा कार्यालय, रिसर्च सेंटर और उद्योगशाला खुल गया है। दूसरी बात एक यह भी तो—माधवी एक वैसी सितारा बाई की लड़की चंदी को अपने घर अपने स्वस्थ परिवेश में

रखकर उस पर यह प्रयोग कर रही है कि जन्मजात कुछ नहीं होता, सब कुछ होती है परिस्थिति। चंदी को वह संस्कारयुक्त, स्वस्थ, अच्छी लड़की बनाकर समाज को देगी। सतपाल चुप रह गया।

पहले भी ऐसे अनेक क्षण आए थे, पर वह तब भी इसी तरह चुप रह गया था। उसके मन में कहीं यह विश्वास बना रह जाता है कि चंदी का अंततः कल्याण ही होगा।

दिन को चंदी पास ही के एक स्कूल में पढ़ने जाती है। घर पर केवल ऊपर के ही काम करती है। खाना बनाने के लिए आया आती है। बर्तन मांजने के लिए महरी आती है। सतपाल एक फर्म में ऊंचे पद पर है। घर में किसी चीज़ की कोई कमी नहीं है। चंदी पर माधवी का विशेष ध्यान रहता है। उसे खाने-पहनने की कभी कोई कमी नहीं रही।

पर उसे किस चीज़ की कमी है, जिसके लिए वह हमेशा इस ताक में रहती है कि फ्लैट में कोई न हो, चंदी बाहर बरामदे में खड़ी होकर दूर-दूर तक आने-जाने वालों को देखे, निहारे। वह भी मीनू की तरह जहां चाहे जाय, दौड़े, खेले। उसकी भी सखियां, सहेलियां हों।

घर में चंदी मीनू का प्यार है। पर चंदी रतन से डरती है। रतन ने जब भी चंदी को बाहर खड़ी सड़क निहारते हुए देखा है, तब-तब उसने मां से शिकायत की है और चंदी को इसके लिए किसी-न-किसी तरह की सजा मिली है!

मीनू और रतन को चंदी के बारे में पता है कि वह कोई अनाथ लड़की है, जिसका पालन-पोषण उनके घर में हो रहा है। चंदी शरीर से स्वस्थ है, सुंदर है। अपनी उमर से चार साल बड़ी लगती है। पिछले दिनों मां ने चंदी को एक साथ तीन साड़ियां लाकर दी हैं और कहा है—आज से तुम फ्राक नहीं, ये साड़ियां पहनोगी और सदा करीने से आंचल ढंककर रखोगी।

एक साल बाद की बात है। माधवी कहीं बाहर दौरे पर गई थी। सतपाल तीनों को संग लिये हुए रात को सनीमा देखने गया था। रतन

के पास बैठी चंदी को न जाने क्या हुआ था कि वह अपनी सीट से उठ कर हाल की दीवार के पास जा खड़ी हुई थी। सतपाल ने फिर उसे अपनी सीट पर बिठाकर खुद रतन के पास बैठा।

“क्या हुआ बेटे, चंदी यहां से उठ क्यों गई?”

रतन बोला, “पता नहीं, बड़ी शैतान है, अपने आप को दिखाने के लिए उठकर वहां चली गई।” घर आकर सतपाल ने चंदी से पूछा था। पता चला रतन चंदी की जांघ पर हाथ फेर रहा था।

पिता ने बड़े प्यार से बेटे को समझाया था कि चंदी तेरी बहन है। उसके साथ तुम्हारा यह व्यवहार अनुचित है। तुम्हें उससे माफी मांगनी है। रतन ने पिता के सामने चंदी से माफी मांग ली थी पर पीठ पीछे रतन ने चंदी को धमकाया था कि फिर कभी पिता से कुछ बताया तो मुझसे बुरा कोई न होगा।

तब से जाने-अनजाने उस घर के दो भाग हो गए थे। एक भाग में सतपाल, चंदी और मीनू और दूसरी ओर माधवी और रतन।

गर्मियों के दिन बीत गए। दीवाली का त्यौहार आया था। रात को पूरे फ्लैट में दीये जल रहे थे। माधवी बेडरूम से किचन की ओर जा रही थी, तब तक अचानक उसे बाथरूम में एक अजीब आहट हुई। बाथरूम का दरवाजा उठा हुआ था। धक्का देते ही दरवाजा खुल गया। बत्ती जलाई तो देखा रतन अपनी बांहों में चंदी को जकड़े हुए है। माधवी की आंखों में आग लग गई। चंदी को खींचकर अपने कमरे में ले आई और लगी मारने पहले हाथों से। फिर अपनी सैंडिल से।

सतपाल ने दौड़कर माधवी को पकड़ना चाहा, पर माधवी पर जैसे कोई भूत सवार था। चंदी का मुंह रक्त से भीग रहा था। माधवी क्रोध से चीख रही थी, “आज इस रंडी की लड़की को खत्म कर दूंगी।”

सतपाल ने पूरे बल से माधवी को पकड़कर कहा, “कसूर तुम्हारे बेटे का दंड इस निर्दोष को, यही है तुम्हारा न्याय? जिस स्वतंत्रता समानता

और न्याय की बात करती हो, वह कितना झूठ है, देख लो!”

“सुप रहो।”

माधवी की चीख पूरे फ्लैट में गूंज गई। आस-पास के लोग दौड़े आए। माधवी ने संयत स्वरों में सबसे कहा, “डिनर सेट था, टूट गया।”

सुबह हुई। चंदी फ्लैट से गायब थी। माधवी ने चैन की सांस ली— बला टली। ईश्वर जो करता है, अच्छा ही करता है।

कुछ महीने बाद माधवी ने सहारनपुर में ‘रेड’ की। उस ‘रेड’ में कई लड़कियां गिरफ्तार की गईं। उसी में एक थी चंदी।

उसने हंसकर कहा था, “मेम साहब, सलाम!”

आशंका

“उस लड़की को देख रहे हो न?”

“हां, देख रहा हूं।”

“कब से?”

“पिछले दो सालों से।”

“कैसी लगती है?”

“बहुत सुंदर, परम आकर्षक पर रहस्यमयी।”

“पर रहस्यमयी क्यों?”

“वह कुछ बोलती ही नहीं। डर लगता है कहीं उलटा-पुलटा न हो जाय।”

“पर वह तुम्हें देखती है।”

“मैं भी उसे निहारता हूं। हम दोनों एक-दूसरे को देखते हैं।”

“कभी पास नहीं गए? बातें नहीं कीं?”

“कैसे जाऊं पास? क्या करूं बात?”

“जो मन में है।”

“जो मन में है! मन में क्या है?”

कहीं मन में लेकर उसने उसे पहला पत्र लिखा, पर कोई उत्तर न मिला। दूसरा लिखा, फिर तीसरा और चौथा तो खुला स्पष्ट प्रेम-पत्र था। उसके जवाब में उसे एक मुस्कान मिली।

उसी मुस्कान के सहारे रोहित मोहिनी से उस दिन पहली बार घर के

पिछवाड़े रास्ते के मोड़ पर मिला। वह आशंका से भरा हुआ था। वह भी कम आशंकित नहीं था। पता नहीं क्या हो, वह कैसा हो! वह कैसी निकले! मोहिनी प्रोफेसर साहब की बड़ी लड़की है। एम० ए० में पढ़ रही है। बी० ए० में प्रथम आई थी। रोहित बी० ए० फेल होकर अपने पिता की दुकान पर बैठता है। फार्मसी—अंग्रेजी दवाइयों की दुकान।

दोनों के पास इतनी फुर्सत, बेकार का समय नहीं है। पर राधेबाबू पूछते हैं, “आगे क्या हुआ? बात कहां तक बढ़ी? उसे पढ़ाई से फुर्सत नहीं। घर के कामकाज से छुटकारा नहीं। इसे दुकान से उतनी छुट्टी नहीं, ऊपर से बदनामी का डर, पिताजी क्या कहेंगे? मुहल्ले वालों से क्या जवाब दिया जाएगा।” राधेबाबू कहते हैं, जो दूसरों के कहने से डरता है, वह जिदगी में क्या करेगा? बदनामी तो प्रेम का मूल धन है। वही तो शक्ति देता है, डर, आशंका फिर क्या है? वही तो झूठ है, जिसे मिटाकर आदमी मनुष्य बनता है। राधेबाबू अपने प्रेम की कितनी कहानियां कहते हैं! जब तक आदमी प्रेम कर खुद अपनी कहानी का हीरो नहीं बनता, तब तक जिदगी ही क्या है। जिदगी का मतलब ही है प्रेम कर अपनी नजर में और प्रेमिका की नजरों में हीरो बन जाना।

एक दिन रोहित ने राधेबाबू से कहा, “प्रेम में तो बहुत समय लगता है। कितना धीरज चाहिए इसमें। आपने यह सब कैसे किया, राधेबाबू! एम० ए० पल-पल से किया। वकालत की, और इतने सफल भी हुए।” राधेबाबू ने गुरुमंत्र बताया, “प्रेम की डोर होती है, बस इसे प्रेमिका के ऊपर फेंक देनी होती है। वह डोर फिर अपने आप लता की भांति फलती-फूलती रहती है। बस, कभी-कभार, हफ्ते में कम-से-कम दो बार उसमें थोड़ा जल दे देना जरूरी है। वरना सूख जाने का डर बना रहता है। इसमें तीन चीजें जरूरी हैं—पहला धन, दूसरा समय, तीसरा स्थान। दोनों को मिलाकर ये तीनों चीजें तुम दोनों के पास हैं। बस साहस और चतुराई की दरकार है। वह तो तुम दोनों ने दिखा ही दिया है। बस उसको थोड़ा और आगे बढ़ने की जरूरत है।

और एक दिन रोहित ने पूरे विश्वास और उत्साह के साथ मोहिनी के सामने खड़े होकर आत्म-निवेदन किया, “तुम्हें पाना चाहता हूं। तुम्हारे

बिना मुझसे रहा नहीं जाता। तुम्हें पता है मेरे मन में क्या है? मुझे पता है, तुम्हारे हृदय में मेरे लिए क्या है। मैं एक अच्छा व्यक्ति हूँ, तुम्हें कभी धोखा नहीं दूंगा।”

मोहिनी अपलक उसे देखती रही, फिर मुस्करायी और धीरे-धीरे उसके चेहरे पर भय छा गया। वह बिना कुछ बोले वहाँ से भागने लगी।

रोहित ने बढ़कर उसका दायां हाथ पकड़ लिया। उसने कांपता हुआ हाथ छुड़ा लिया। अजब तीखे स्वर में बोली, “खबरदार, मुझे जो फिर छूने की कोशिश की।”

“आखिर क्यों?”

“चुप रहो!”

“तुम डरती हो?”

“कुछ नहीं।”

“तुम मुझसे प्यार नहीं करती?”

“प्यार क्या होता है?”

“प्यार माने प्यार।”

“मुझमें वह नहीं है।”

“क्या?”

वह वहीं ठगा-सा देखता खड़ा रह गया। वह तेज कदमों से चली गई। अगले दिन रोहित को मोहिनी का लिखा हुआ एक पत्र मिला। उसकी पंक्तियाँ थीं—‘बचपन से लेकर अब तक मैं जो कुछ देखती और अनुभव करती रही, उसका सार तत्त्व यह है कि यहाँ लड़की, स्त्री, औरत केवल एक वस्तु, पदार्थ के रूप में देखी और जानी जाती हैं। यहाँ कहीं भी वह भाव, वह संबंध-बोध नहीं है, जिसे रोमांस या प्रेम कहा जाय। वह मर गया है होटलों में, सड़कों पर, राह और गलियों में, पार्टियों और आपसी मेल-मुलाकातों में। तुम कभी भी मुझसे मिलने, पत्र लिखने की आगे कोशिश न करना।’

रोहित ने यह पत्र राधेबाबू को दिया। राधेबाबू ने वचन दिया कि वह सच्चाई का पता लगायेंगे। सच्चाई यह नहीं है, जो मोहिनी ने लिखा है। सच्चाई कहीं गहरी छिपी होती है, उसका पता उसे खुद नहीं होता

जो इस तरह की बातें लिखती है।

राधेबाबू ने कई उपाय किए, कुछ टोटके-टोने भी किए और कराए, पर कोई सफलता न मिली। उन्होंने फाइल बंद कर दी और फैंसला दिया ‘‘यह ‘केस होपलेस’ है।

रोहित अब दुकान नहीं जाता। भीतर-ही-भीतर वह कुछ बीमार-सा महसूस करने लगा। वह अक्सर सोचता उसे जिस बात की आशंका थी, वही हुआ।

मार्च के शुरू के दिन थे। आसमान में बादल छाए हुए थे। पिछली रात से रोहित को थोड़ा बुखार हो आया था। शाम के करीब साढ़े सात बजे होंगे। रोहित अपने अलग कमरे में कंबल ओढ़े पड़ा था। सहसा कमरे में एक युवती का प्रवेश हुआ। रोहित उसे देखकर हैरान हो गया।

“आप कौन?”

“पहचाना नहीं, मेरा नाम ममता है। कभी आपने मुझे भी प्रेम-पत्र लिखे हैं। मेरे जवाब भी आपको मिले हैं। आपने ही अचानक खत देना बंद कर दिया। मैं फिर भी आपको बराबर खत लिखती रही। आज मैं खुद मिलने चली आई, सुना है तुम बीमार हो!”

रोहित चुपचाप पलंग पर बैठा था। वह कुर्सी खींचकर उसके सामने बैठ गई। पूरे कमरे में सन्नाटा छाया हुआ था। वही बोली, “अब अनुभव हुआ न, उपेक्षा क्या होती है? उत्तर देना और न देना क्या होता है?”

रोहित ने सिर उठाकर उसे देखा। वह कह रही थी, “मोहिनी मेरी सहेली रही है। मैं उसे बहुत नज़दीक से जानती हूँ, वह एक विचित्र लड़की है। पता नहीं कैसे, कहां से उसके भीतर एक अजीब भय आ समाया है। जिसमें प्रेम नहीं है, यदि कहीं ऐसे पुरुष ने उसे छुआ या उसके समीप आया, तो वह नष्ट हो जाएगी।”

रोहित के मुँह से निकला, “मैंने उसे छुआ, क्या वह नष्ट हो गई?”

“उसे आशंका है!”

“कैसी आशंका?”

“पता नहीं, पर तब से वह भी बिस्तर पर पड़ी है।”

“नहीं, ऐसा नहीं हो सकता !”

उसी क्षण, उसी हालत में रोहित मोहिनी के घर पहुंचा। तेज हवा बह रही थी। सारे वातावरण में ठंड छा गई थी। लग रहा था या तो आंधी आएगी या आंधी-पानी दोनों।

नौकर उसे अपने संग लिये मोहिनी के कमरे में गया। रोहित बैठा नहीं। नौकर आग्रह करके चला गया।

मोहिनी पलंग से सटी आरामकुर्सी पर बैठी थी। उसके हाथ में कोई किताब थी। अचानक उसने ऐसी उड़ती, तेज और चमकीली आंखों से रोहित को देखा कि वह और घबरा गया।

पर धीरे-धीरे उसका चेहरा एकदम बदल गया। उसका मुख एक अजीब कोमलता से भर गया।

उसने कहा, “बैठेंगे नहीं !”

रोहित ने बड़े निश्चित स्वर में जवाब दिया, “मेरा खयाल है, आपने मुझे बिलकुल ही पसंद नहीं किया होगा।”

वह मुस्करा पड़ी। बड़े सहज ढंग से बोली, “अच्छा देखिए, आप अभी तक मुझे नहीं जानते, मैं एक विचित्र लड़की हूँ ! लड़की न कहना चाहें, तो स्त्री कह सकते हैं। हां, मैं विचित्र स्त्री हूँ। मैं चाहती हूँ... लोग मुझसे झूठ न बोला करें।”

“मैंने क्या कहा ? कब क्या झूठ बोला ?”

“ओ हो, आप इतने उत्तेजित क्यों हैं ?”

“आपने... आपने...”

रोहित कुछ न बोल सका। वही बोली, “लगता है आपको मेरे बारे में कुछ पता चला है।”

“हां, चला है।”

“वह सच है।”

“क्या ?”

“जो आपको पता चला है।”

रोहित ने गंभीरता से कहा, “मतलब मैं झूठा हूँ। और अब तुम मर जाओगी ?”

“यह किसने कहा ?”

वह फटी-फटी आंखों से बंद खिड़की के बाहर देखने लगी। बाहर तूफान जैसा आया हुआ था। तेज हवा, तेज वर्षा जैसे उस पूरे घर को, पूरे वातावरण को झकझोर रही थी।

वह उठ खड़ी हुई, खिड़की के पास गयी। शीशे पर पानी के तेज छींटे पड़ रहे थे। वह घूमकर रोहित के पास आ खड़ी हुई।

“इधर देखिए, आप सीधे मेरे मुख को क्यों नहीं देखते ?”

रोहित ने माथा उठाकर मानो पहली बार मोहिनी को देखा। और जैसे अपने आपको सम्हालते-सम्हालते वहीं पलंग पर बैठ गया। गहरी सांस लेता हुआ मोहिनी को देखा, फिर उसके चारों तरफ देखने लगा। रह-रहकर जैसे कोई बात उस पर चोट करती, वह दुख से भर जाता, फिर एकाएक बिलकुल शांत ठंडा पड़ जाता।

“तो इसे ही प्रेम कहते हैं ?”

उसने अपने आपसे प्रश्न किया। इसके उत्तर में मोहिनी का चेहरा उसकी आंखों में इस तरह तिरने लगा, जैसे वह वहां हो ही नहीं। सब स्वप्न-सा अनुभव होने लगा।

थोड़ी देर बाद उसने देखा, मोहिनी का मुख और ज्यादा कोमल हो गया है। वह इस तरह से देख रही है, जैसे कुछ पूछना चाह रही हो।

वह पलंग से उठा। खिड़की के पास गया। तूफान नहीं था। केवल वर्षा हो रही थी। उसका संगीत कमरे भर में छाता जा रहा था। उसके भीतर न जाने क्या भरने लगा ! अब वह बिलकुल गूंगा हो चला था।

उसने आज तक इस प्रकार का ताकना नहीं देखा था, जिस तरह मोहिनी चीजों को देख रही थी।

उसके मुंह से निकला, “आओ, मेरा हाथ पकड़ लो !”

हतप्रभ रोहित ने उसकी ओर देखा। उसकी आंखों में न जाने कैसी चमक दिखाई दी, जो आंधी-वर्षा और धुंध के पार खेल रही हो।

“अब भी क्या तुम्हारी तबीयत खराब है ?”

“और तुम्हारी ?”

“क्यों, मैं कैसी लगती हूँ ?”

“बिलकुल....”

“बोलो...जरा भी कोई संकोच नहीं !”

“तुम नहीं चाहती, मैं तुम्हें प्यार करूँ ?”

मोहिनी चुप रह गई। उसके पास आई और उसके कंधे पर अपना मुँह रखकर निहायत कोमल स्वरों में बोली, “नहीं, मैं तो चाहती हूँ... लेकिन उस तरह, नहीं, जैसे तुम मुझे पहले प्यार करते थे।”

“तो फिर कैसे ?”

“ऐसे कि हम दोनों स्वयं मित्र बन जायें !”

अज-विलाप

“वह देखो, वह ! फुनगी चढ़ा आसमान, इमली के पेड़ पर अजामिल। बाप रे ! पता नहीं इसकी लरिकाई कब जायेगी। बाइस-तेइस साल का पट्टा जवान, मोंछ-दाढ़ी घहराय आई हैं, देखो तनी, बंदर माफिक पेड़ पर चढ़ा है। सुनो-सुनो कैसा चिचियाय रहा है....”

“वक्, चिचियाय नहीं, गा रहा है—इमली के लेहुँचा, कौन जवान मोर पकरी पहुँचा। लेव, इमली के पेड़ पर से सारे बंदर भदर-भदर कूदकर भाग गये !”

अपने दरवज्जे से लंका मिसराइन चिल्लाकर बोली, “अरे अज्जू, ओ अज्जू, दहिजरा कै पूत, कान फूटिगँ का ! अरे अब उतरि आव।” पर कौन उतरता है। बंदर भगाने गया था अजामिल। लंका मिसराइन ने भेजा था। जिस पेड़ पर अज्जू चढ़ने लगे, क्या मजाल कि कोई बंदर उस पेड़ पर बैठा रह जाय। तीन साल पहले जब बड़की आंघी आई थी, पांडे जी के बगिया में न जाने कहां से लंगूर ने आकर डेरा जमा रखा था, तब उसे भगाने के लिए पांडे जी ने अजामिल को ही उकसाया था। लंगूर जिस डाल पर छिपकर सोता, अज्जू चुपके से पहुँचकर उसकी पूँछ खींच देता। बेचारे लंगूर की नींद हराम हो गई, दुम दबाकर भागा।

इमली के पेड़ से नीचे कूदकर अज्जू पूरी तरह सांस भी नहीं ले सका था कि रामरतन और झिनकू चौधरी दोनों उसकी ओर लपके। रामरतन ने कहा, “ले बेटा, दौड़कर बाज़ार चला जा, अलीदीन दरजी के यहां से

मेरे कपड़े ला दे।”

झिनकू ने कहा, “अरे बेटा अज्जू, उधर से लपककर डॉक्टर के यहाँ चले जाना, ई पुरजा देकर दवाई लेते आना। किसी और के कहने में मत आ जाना।”

अजामिल की माई ने दूर से कहा, “अरे अज्जू के मुंह में अभी तक दाना-पानी नहीं गया है। पूरे गांव भर ने मानो मेरे बेटे को नौकर बना रखा है।”

माई बोलती रह गई। अजामिल किलकारियां मारता हिरन की तरह चौकड़ी भरता हुआ निकल गया। बाजार में अलीदीन के यहाँ से डॉक्टर के यहाँ पहुंचा। दवाई लेकर जब चलने लगा तो डॉक्टराइन ने कहा, “ओ रे, मेरी दो खाटें ढीली पड़ गई हैं, जरा कस तो देना।” खाटें खड़ी करते-करते अज्जू को बेतरह भूख लग गई। गांव लौटा, तो दूर से ही शोर-शराबा सुनाई दिया। चौधरी और रामरतन के घर उनके सामान रख जब वह अपने घर की ओर मुड़ा तो गांव के बीचों-बीच ठाकुर के अहाते में चकरधम्म मचा था। अज्जू के पिता पंडित सत्यप्रिय जी लोगों को डांट रहे थे, “अज्जू की सिध्दाई और भोलेपन का नाजायज फायदा उठाते हैं आप लोग! वह मेरा एकलौता बेटा है। पुरोहिती, कथा-वार्ता-काज से मुझे अक्सर बाहर आना-जाना होता है। होता है कि नहीं?”

“हां-हां, पंडितजी! होता क्यों नहीं!”

“फिर, मेरा काम कैसे चले? इधर आ, अज्जू!”

अजामिल ने पिताजी के पैर छूकर प्रणाम किया। पिताजी तीन दिन बाद घर लौटे तो बेटे को घर-दरवाजे पर न पाकर इतने नाराज हुए हैं कि ठाकुर के दरवाजे पर पूरे गांव को बुलाकर डांट-फटक रहे हैं।

अज्जू बोला, “क्या हुकुम है, पिताजी?”

पंडितजी गरजे, “तू सदा दूसरों का हुकुम बजाता रहेगा या अपने विवेक-ज्ञान से भी कुछ करेगा? बोल, बोलता क्यों नहीं?”

“बहुत करारी भूख लगी है, पिताजी!”

“तो मैं क्या करूं?”

“आप कहें तो खाना खा आऊं।”

“जा। खाना खाकर बैलों की सानी-पानी कर, अपने दरवाजे पर रहना, मैं अभी आया।”

अजामिल अपने घर गया। अजामिल के पिताजी ने गांव के लोगों को सावधान करते हुए कहा, “फिर अजामिल से कोई अपना काम लेगा, तो मुझसे बुरा कोई नहीं होगा। हां, कान खोलकर सुन लो।”

हां-हां, सबने कान खोलकर सुना। यह कोई नई बात तो है नहीं। छठे-छमासे पंडित सत्यप्रिय को इस बहाने पूरे बनकटी गांव को डांटने-फटकारने को मिल जाता है। ब्राह्मण की फटकार, दुधारी गाय की फुंफकार। आखिर अजामिल के ही तो पिताजी हैं। अजामिल के नाम पर इतनी डांट-फटकार में क्या रखा है! कल भोर में पंडितजी फिर निकल जायेंगे पुरोहिती में, फिर अजामिल भइया पूरे गांव-जवार का अज्जू बेटा।

“ओ रे अज्जू, जरा हेंगा पहुंचा दे मेरे तिनकठिया वाले खेत में।”

“ओ रे बचवा, आ जा छप्पर उठा दे।”

“जरा कोल्हू हांकना भाई, दिसा जंगल हो आऊं!”

“शहर चलोगे अज्जू भाई, सनीमा देखेंगे।”

“नहीं भाई, पिताजी ने कहा है, सनीमा-फनीमा से चरित्र भ्रष्ट होता है।”

“अच्छा, एक गाना गा दो, अज्जू भइया!”

“कौन-सा गाना?”

“अरे वही—बिना मोती के चैना पड़त नाहीं!”

“लो, तुम कहते हो तो गा देता हूं, जमुना भाई!” गाना पूरा कर अज्जू ने कहा, “कहो तो अब घर जाऊं, जमुना भाई!”

“सुनो, अज्जू!”

“कहो, भाई!”

“अगर कोई तुमसे कहे कि अज्जू भाई, कुएं में कूद पड़ो, या आग लगा लो अपने कपड़ों में, तो क्या वैसा कर लोगे?”

“कोई ऐसा मुझे कहेगा क्यों? कल्पना करो।”

“कोई ऐसा कहे तो?”

“ऐसी कल्पना मैं क्यों करूं?”

ठीक कहा अजामिल ने। पूरा गांव-जवार अज्जू को प्यार करता है। प्यार ही नहीं, इज्जत करता है। अजामिल जहां, जिधर, गांव-सिवान में निकलता है, लोग उसे अपने पास बुलाने लगते हैं। लोग खुद दौड़े हुए उसके पास आ जाते हैं। जिस दिन जो अजामिल को न देखे, उस रात अजामिल से मिले वह रह नहीं सकता।

अज्जू की माई तब अपना सिर पीटती हुई कहती, “बाप रे बाप, हमारे बेटवा के नींद भी हराम। देखो, अब चुपचाप पैर दबाये चले जाव, हां। तनिक आहट हुई नहीं कि अज्जू जाग जाएगा।

“अरे माई, अजामिल कोई लड़िका-नदान तो है नहीं!”

“हां-हां, चलो-चलो, बड़े चोंचले न बघारो, शिवशंकर। हम सब कै जानी। रात को कोई काज आन पड़ा है, तब बड़ा परेम चर्याया है अज्जू के लिए। जाव-जाव, नाहीं तो कहि देइत है। हां!”

चैत रामनवमी अयोध्या के मेले में पैदल जाने को लंका मिसराइन फांड बांधकर खड़ी हो गई। अस्ती साल की बुढ़िया मिसराइन, बनकटी गांव में घूम-धूमकर कहती रहीं, “जिसे चलना हो, चलै अयोध्या हमरे साथ।” कुल ग्यारह लोग गठरी-मोटरी बांधकर तैयार। तीन मरद, मिसराइन सहित पांच मेहरारू और तीन लड़कियां। मिसराइन डंडा पटकती हुई अजामिल की माई के पास पहुंचीं।

“कहां है अज्जू?”

माई ने गुस्से से पूछा, “क्यों?”

“अरे अज्जू हमरे पंचन के साथ अयोध्या मेला चलेगा।”

“मेला चलेगा, हाय, हाय! गठरी-मोटरी ढोवेगा। यह नहीं होगा, हर्गिज नहीं होगा; तुमसे चला न जायेगा तो अज्जू तुम्हें अपनी पीठ पर ढोवेगा, यह अब नहीं होगा। राह चला न जाय, रजाई के फांड बांधे जिसे जाना हो, आप अपने बूते। नहीं जाने दूंगी लुच्चे-लपाड़ियों के साथ अपने बेटे को।”

लंका मिसराइन अब बिगड़ी, “चुप रह बहू, बहुत हो गया। अज्जू तुम्हारा बेटा है, बिलकुल है। तुम जनी हो, मुला हमारा बेटा भी तो है अज्जू!”

“कैसा बेटा? किसी और के बेटे को क्यों नहीं बना लेती? भरा पड़ा तो है पूतों से बनकटी गांव।”

“सब स्वार्थी मुंहचोर, कामचोर हैं, बहू! अज्जू है अकेला बेटा, वीर बहादुर सेवकराम। तुम चाहती हो अज्जू भी वैसे हो जाय, जैसे औरों के कपूत हैं—मतलबी, कनकातुर, मेहरे। चलो अज्जू, मेरा आडर है!”

“वाह रे तेरा आडर! बैलों को सानी-पानी कौन देगा? खेत-खलिहान कौन देखेगा? पंडित जी को जवाब कौन देगा?”

“मैं दे दूंगी जवाब। मेरा बेटा रामकृपाल तब तक यहां का सारा कामकाज सम्भाल लेगा, समझिउ कि नाहीं!”

क्या समझेगा कोई!

माई और मिसराइन के बीच जो महाभारत मचा हुआ था, अज्जू ने हाथ जोड़कर कहा, “जब इतना कह रही हैं तो जाने दे, माई! सबको अयोध्या पहुंचाकर कहो तो उसी दिन उलटे पैर लौट आऊंगा।”

माई ने तड़पकर कहा, “तू अजोध्या जायेगा तो बिना सरजू में स्नान किये, बिना हनुमान गढ़ी में परसाद चढ़ाये लौट आयेगा रे!”

“जैसी आज्ञा करोगी, वही होगा, माई!”

“तू कुछ अपने दिमाग, अपनी सोच-समझ से करेगा या सदा दूसरों के ही कहने से चलेगा।”

“तू क्या चाहती है माई, बोल, मैं वह पूरा करके न दिखा दू तो मेरा नाम अजामिल नहीं।”

“मेरे तो भाग फूट गए, न जाने यह नाम किसने दे दिया?”

अजामिल जब सबको संग लिये अयोध्या तीर्थयात्रा पर चला, तो गांव-गढ़ी के कुछ लंगड़े-लूले भी साथ हो लिये। जब अज्जू भइया साथ हैं तो क्या चिन्ता?

बनकटी से साहबगंज, साहबगंज से राघवपुर गांव। राघवपुर के तिवारी का परिवार बैलगाड़ी से अयोध्या मेला में जा रहा था। सियाराम तिवारी ने अजामिल को देखते ही पुकारा, “अरे अज्जू बेटा, आ जा, आ जा। मेरी बैलगाड़ी के जुए पर। हम भी अयोध्या चल रहे हैं।” अजामिल ने बढ़कर तिवारी के पांव छुए। बैलगाड़ी पर ओहार पड़ा था।

“तिवारी जी, आज्ञा हो तो लंका मिसराइन को बैलगाड़ी में बिठाया दूँ। आपन लोग तो पैदल आए हैं, पैदल चलेंगे।”

“हां-हां, बिठा दे बेटा!” पायलागी मिसराइन!”

अज्जू ने मिसराइन बूढ़ी को गेंद की तरह उठाकर दम्म से डाल दिया बैलगाड़ी में। मिसराइन ओहार के निकट घिसक गई। आगे-आगे तिवारी जी की बैलगाड़ी। दायें-बायें लोग।

लंगड़दीन बोला, “अज्जू भइया, तुम आगे-आगे चलो, नहीं तो सारी धूल उड़कर तुम्हारे ऊपर...”

“लेव, आगे-आगे ही सही।”

पदारथ बहू बोली, “अरे कोई गाना छेड़ो, अज्जू भइया! रास्ता ऐसे थोड़े कटी।”

“लेव काकी, सुनो—

बनवारी हो। हमरा कै लरिका नादान।”

चलती हुई बैलगाड़ी के भीतर से, जरा-सा ओहार उठाकर तिवारी जी की बड़ी लड़की कस्तूरी ने देखा। “हाय, यह कौन गा रहा है। पट्टा कितनी मस्ती से गा रहा है! ई कौन है?”

“अरे, यही तो अजामिल है आपन। लाखों में एक। हां, चरित्रवान कर्मवान, दयावान, सेवावान और इतना सुंदर सजीला, भगवान-भगवती माई, ठाकुर बाबा इसे अच्छे रखें। हां...” लंका मिसराइन की आंखों से भर-भर आंसू झरने लगे। जैसे अज्जू उन्हीं की कोख से जन्मा हो। मिसराइन को जितने सारे अच्छे-अच्छे शब्द याद थे, सब जड़ दिये अजामिल की तारीफ में।

“अच्छा!”

“हां, तिवाराइन।”

तिवाराइन ने अपनी जवान बेटी को डांटा, “बन्द कर ओहार कस्तूरी, क्या झांक रही है...हां, तो मिसराइन...”

“हां, तो मैं का कह रही थी...?”

“अजामिल के बारे में...!”

मिसराइन ने बैलगाड़ी के फट्टे पर डंडा मारकर कहा, “अरे अज्जू,

ओ रे अज्जू...!” अज्जू के लिए मिसराइन दादी को जब जरूरत से ज्यादा प्यार-दुलार उमड़ता है, तब उसे अज नाम से पुकारती है।

“हां, दादी!” तब अज भी दादी कहता है।

“अरे का पें-पों गा रहा है। अरे कोई भजन गा।”

“लेव, भजन—जननी बिनुराम, अब ना अवध मा रहिबे।”

“ई तो बहुत पुराना भजन है रे!”

“तो लेव, फिल्मी भजन सुनो—

माई जसोदा से पूछें नन्दलाला

राधा क्यों गोरी मैं क्यों काला!

बैलगाड़ी में से एक खिलखिलाती हुई हंसी बाहर उफन पड़ी।

तिवाराइन ने डांटा, “चुप रह कस्तूरी!”

लंका मिसराइन मुदित स्वर में बोली, “अरे यही तो हंसने-बोलने की उमर है।...बड़ी सुंदर बिटिया है! तिवाराइन, कहीं ब्याह-शादी की भी चिन्ता कर रही हो या हाथ पै हाथ धरे बैठी हो?”

“तिवारी जी कब से दौड़-धूप कर रहे हैं। बात ई है कि...” तिवाराइन ने बेटी की आंख बचाकर मिसराइन के कान में कहा, “बात ई है कि बड़ी मुंहचढ़ी है अपने बाप की। बाप से मुंहफट कह दिया है ‘शादी मेरी पसन्द की होगी, वावू! जब देखकर मैं ‘हां’ कहूंगी तभी!”

मिसराइन खिलखिलाकर हंस पड़ी। तिवाराइन भी हंसने लगी।

दिन डूब चुका था।

तिवारी ने आम की बगिया में कुएं के पास बैलगाड़ी रोकते हुए कहा, “बस, आज यहीं डेरा पड़ेगा। सुबह तड़ाके भुरुकुआ उर्ग के साथ कूच करेंगे, दोपहर होते-होते अयोध्या जी। बोलो सियावर रामचन्द्र की जै! बोलो अयोध्यानाथ की जै! बोलो राजा रामचन्द्र की जै। पवनसुत हनुमान की जै।”

जितने लोग थे साथ में, सबने एक-एक जकार की, ब्राकी लोग एक स्वर में हाथ उठा-उठाकर जै कहते रहे।

ठीक आधी रात के समय, जब सारे लोग बेसुध सो रहे थे, लंका मिसराइन ने बहुत धीरे-से अजामिल को जगाया !

“अज ! ओ रे अज !”

“का है रे, दादी !”

“जा धीरे-से आंख धो आ !”

“लो, आंख धोकर आ गया !”

“अयोध्या धाम की ओर मुंह करके बैठ !”

“लो, बैठ गया !”

“एक बात कहूँ रे !”

“कहो न !”

“मेरी बात मानेगा न ?”

“अरे आज्ञा करके देख लो !”

“तो सुन—तिवारी जी की बिटिया कस्तूरी है न ?”

“हां, है !”

“देखा है ?”

“देखा नहीं, सुना है !”

“बक ! वह देख, वह सोई पड़ी है। जा, देख ले ना। जा !”

“ना-ना, मुझे लाज लागे, दादी !”

“मैं कहती हूँ, जाकर देख आ, नहीं तो मारूँ वह डंडा !”

“अच्छा-अच्छा, देख लेता हूँ !”

अज्जू सोती हुई कस्तूरी को देख आया।

“देख लिया ? कैसी लगी ?”

“बक !”

बिना दांत के मिसराइन की बत्तीसी खिली रही। चारों ओर रात का सन्नाटा छाया हुआ था। कहीं दूर से तीर्थयात्रियों का गायन सुनाई दे रहा था। मिसराइन ने अज्जू के माथे पर दाईं हथेली रखकर कहा,

“अज्जू, मेरी एक बात पूरी कर।”

“जरूर करूंगा, दादी !”

“तो सुन, कस्तूरी से प्रेम कर !”

अज ने बिलकुल उसी शुद्ध सेवा और भक्ति भाव से पूछा, “प्रेम कैसे किया जाता है, दादी ?”

“अरे, बताऊंगी न !”

“तो कर दूंगा दादी, इत्मिनान रखो ! कहो तो अब सो जाऊं, दादी !”

“भूलना नहीं !”

“राम जाने, नहीं भूलूंगा। वचन पूरा करूंगा।”

अजामिल सो गया, लंका मिसराइन बैठी-बैठी तुलसीमाला घुमाती, सियाराम-सियाराम जपने लगीं।

अभी डेढ़ घंटा रात बाकी है। लोग जगकर यात्रा की तैयारी में लगे, इससे पहले मिसराइन ने कस्तूरी और तिवराइन को जगाया। तीनों जनी कुएं पर गईं। कस्तूरी ने पानी भरने के लिए गगरा कुएं में डाला। भरा गगरा खींचने लगी कि आधे कुएं में उबहन टूट गई और घड़ाम से गगरा कुएं में गिरा।

“हाय दइया, बाबू जागेंगे तो क्या कहेंगे !” कस्तूरी का दायां हाथ दबा दिया मिसराइन ने।

तिवराइन अलग परेशान। “अब का होगा ! कस्तूरी के बाबू जागेंगे तो मुझे डांटेंगे कि इसे क्यों गगरा भरने दिया अनजान कुएं में रात के वक्त। हाय दइया, मैं क्या करूं ?”

मिसराइन ने हाथ दबाकर कहा, “बेटी, मेरी बात मान। जा, चुपके से उसी अजामिल को जगा, वह अभी कुएं में से गगरा निकाल देगा और कोई उपाय नहीं, जल्दी कर जल्दी, हां।”

घबड़ाई हुई कस्तूरी ने अजामिल को किसी तरह जगा तो दिया, पर लाज के मारे कुछ न कह सकी। कुएं की तरफ किसी तरह इशारा भर किया। चुपचाप आगे-आगे कस्तूरी, पीछे-पीछे गाय के जवान बछवा की तरह अजामिल। पलक भांजते ही अज्जू कुएं के पानी में डूबकर नीचे गगरा टटोलने लगा। ऊपर कुएं की जगत पर कस्तूरी का जी धक्-धक् करने लगा। हाय ! अज गगरा हाथ में लिये पानी के ऊपर आ गया।

यात्रा चली।

लंका दादी ने कहा, "सुन रे अज, अब मौका देखकर कस्तूरी से झटाक से कह दे कि मुझे तुझसे प्रेम हो गया है, हमारा विवाह हो जाये!"

अयोध्या में बाबा राखाल दास की छावनी पर यात्रा पूरी हो गई। गाड़ी रुकते ही कस्तूरी छावनी के मंदिर की ओर दौड़ी। दादी ने इशारा किया। अज्जू उसके पीछे-पीछे दौड़ा। मंदिर के चबूतरे पर अचानक कस्तूरी का दायां हाथ पकड़कर अज ने अजब मंत्रमुग्ध स्वर में कहा, "प्यार हो गया मुझे तुमसे। अब बस, ब्याह हो जाये!"

"बक!"

दांतों तले आंचल का कोना दबाये कस्तूरी दौड़ी अपनी मां के पास चली आई। अज चुपचाप मंदिर के चबूतरे पर मूर्तिवत् खड़ा रहा।

बनकटी गांव में लंका मिसराइन ने बात फैला दी कि राघवपुर के तिवारी की इकलौती बेटी और पंडित जी के इकलौते बेटे अजामिल की शादी पक्की हो गई है। यह बात जैसे ही पंडित सत्यप्रिय के कानों में पड़ी, उन्होंने अजामिल को पुकारा, "अज, बेटे!"

"हां, पिताजी!"

"यह राघवपुर के तिवारी की बेटी के साथ तुम्हारी शादी की बात किसने की?"

"मैंने खुद, पिताजी!"

"किसके कहने पर?"

"लंका दादी..."

पंडित सत्यप्रिय मारे आवेश और क्रोध के अज पर टूट पड़े। अज्जू ने जरा भी अपना बीच-बचाव नहीं किया। अज्जू की माई छाती पीटने लगी। अज्जू को जमीन पर गिराकर पंडित सत्यप्रिय पागलों की तरह उसे पीटने लगे। पहले हाथ-पैर से, फिर खड़ाऊं-जूते से। अज्जू की चीख

सुनकर सारा गांव वहां घिर आया, पर किसी की हिम्मत नहीं कि पंडित जी का कोई हाथ थामे। अचानक उस भीड़ को चीरती हुई लंका मिसराइन दौड़ी... और तड़पते-छटपटाते हुए अज्जू के ऊपर बिछ गई।

"ले, मार, और मार!"

"हट जाओ, वरना बहुत बुरा होगा!"

मिसराइन ने रोते हुए कहा, "अब इससे बुरा और क्या होगा? ऐसे निर्दोष, भोले जवान बेटे को कसाई की तरह मारा। बोल, क्यों मारा तुने? क्या कसूर किया इसने? बोलता क्यों नहीं? बता, क्या है अज की गलती?"

पंडित सत्यप्रिय की आंखों से चुपचाप आंसू ढलकने लगे। भरे कंठ से बोले, "यह खुद क्यों नहीं मुझसे सवाल करता कि मैंने इसे क्यों मारा? यह हर काम दूसरों के कहने से ही क्यों करता है? यह स्वयं अपने कर्म का कर्ता कब होगा?"

पंडित सत्यप्रिय ने रोते हुए अज को पूरी ताकत से उठाते हुए कहा, "जो अपने कर्मों का कर्ता नहीं, वह उसका भोक्ता नहीं, जो भोक्ता नहीं उसे कभी मुक्ति नहीं मिल सकती!"

अज चुपचाप बैठा जमीन में नजर गड़ाये था। अपनी एकाग्र दृष्टि से न जाने क्या देखने लगा था, पहली बार। मां, पिता जी, लंका दादी और पूरा गांव रो रहा था। अज ने अजब नजरों से विलाप करते हुए पिता की ओर देखा। पास जाकर उनके पैर छूकर कहा, "रोओ नहीं पिताजी, आज मैं खुद जा रहा हूं राघवपुर के तिवारी के पास... मेरे साथ कोई नहीं आयेगा।"

लंका दादी के मुंह से निकला, "मुझे भी साथ नहीं?"

"नहीं!"

"अब तू किसी के कहने से कुछ नहीं करेगा?"

"नहीं, जो मैं चाहूंगा, वही करूंगा!"

अज की माई ने कहा, "तो मेरी सुन, तिवारी की बेटी की बदनामी है, मैं उससे तेरी शादी नहीं होने दूंगी!"

"अब मेरी शादी उसी से होगी।"

अज ने जाकर कुएं पर खूब स्नान किया। अपनी इच्छानुसार कपड़े पहने। अपने गांव से राघवपुर के लिए चला।

पिताजी के मुंह से निकला, “बेटे, कल सुबह जाना।”

अज अपने सिर पर हल्दी रंगी पगड़ी बांधता हुआ चला।

उसके पीछे अज के पिताजी पंडित सत्यप्रिय चले जा रहे थे और उनके पीछे लंका मिसराइन।

वही कथा कहो, मां

“ऐसा नहीं है, मां !”

“क्या ?”

“ऐसा नहीं है !”

“क्या नहीं है ?”

अचानक एक चुप्पी छा गई। मां की तरफ से नहीं, बेटे की ओर से। यूनिवर्सिटी से घर आये आज तीन दिन बीत गए, पर बेटे का मुंह जैसे आज खुला।

उसे अब बेटे कहना ठीक न होगा। तब भी, आज से चार साल पहले जब वह स्थानीय महिला विद्यापीठ से पास होकर उतनी दूर यूनिवर्सिटी में प्रवेश लेने अकेली घर से निकली थी, उसके पिताजी के कान में पड़ा था, “भला मेरे अकेले जाने में क्या डर है ? मुझे अब किसी चीज का भय नहीं। पिताजी बेकार में ‘बिटिया-बिटिया’ की रट लगाए रहते हैं। और मां, तुम तो ‘अरे बिटिया, ओ बिटिया—मेरी बिटिया को कौन जगाएगा। कैसे, केतिर खाना खाएगी ?” —वृंदा ने मां की नकल उतरी थी। सीधी-सादी मां हंसती रह गई थी।

इसे अब वृंदा नाम से पुकारना होगा। पर पिताजी चाहे जो कहें, मां कैसे नाम लेगी जवान बेटे का, जब कभी नाम लिया ही नहीं ! एम० ए० पास कर ले या ले०ले०बी०(एल-एल०बी०) क्या फर्क पड़ता है भला !

पर, मां को क्या पता ! फर्क पड़ता है। यही नहीं, अचानक कुछ कहीं

ऐसा घट जाता है कि उसे भूलते नहीं बनता। वह चीर-फाड़ डालता है। न जाने कहां-कहां क्या-क्या तोड़ डालता है। जिस दिन, इस बार वृंदा बिना किसी छुट्टी के, बे-बताए घर आई है, मां ने देखा—बेटी का मुंह जैसे किसी ने सिल दिया है। आंखें फूली-फूली हैं। किसी के कुछ पूछने पर कहीं कोई जवाब नहीं। नींद नहीं, खाना नहीं, प्यास नहीं। पिताजी यों भी वृंदा से ज्यादा बोल-चाल नहीं करते थे। पत्रकार का जीवन था उनका। घर में या तो वे कुछ पढ़ते-लिखते होते, नहीं तो थककर सो गए होते। लेकिन इस बार मां ने बेटी को सुनाते हुए कहा था, “सुनते हो बेबी के बाबूजी, बेटी से कुछ पूछो तो भला! ई का है माजरा? ई माफिक मुंह फुलाए है। ऐसा तो कभी नहीं भया।”

“तो पूछो ना!”

“भला मैं का पूछ?”

“ठीक है थकी होगी!”

“तुम्हें तो सब केती ठीक है!”

मां ने वृंदा से पूछा था, “डॉक्टर को बुलाऊं?” वृंदा का मुंह तमतमा आया था। तब मां ने पंडितजी को बुलाया। वृंदा की कुंडली बिचरवाई गई। सब ठीक-ठाक निकला। उस शाम मां पूजा-पाठ करके वृंदा के पास ठाकुरजी का चरणामृत लेकर गई। वृंदा ने उसे माथे लगाया। मां ने उसे बांहों में भरकर कहा, “देख बिटिया, अगर अपना दुःख-सुख मुझे नहीं बताएगी तो मेरी जिंदगानी का कौन फायदा!”

कहकर मां चुप हो गई। उसकी आंखों से झर-झर आंसू झरने लगे। वृंदा ने मां को चिकोटी काटते हुए कहा, “जब कुछ बात नहीं है तब क्या बताऊं?”

अचानक मां बोली, “सुन री बिटिया, वह जो तेरे जगदंबाप्रसाद हैं ...अरे तेरे वही गुरुजी...”

“मेरा कोई गुरु-बुरु नहीं है!”

वृंदा के मुंह से जिस ढंग से यह बात निकली, मां ने समझ लिया, चोट कहीं यहीं है। जगदंबाप्रसाद—वृंदा के लेक्चरर, वृंदा के परमप्रिय, परम पूज्य जगदंबाप्रसाद...उन्हीं के कारण तो वृंदा गई उस यूनिवर्सिटी में,

चरना क्या वृंदा के शहर में कोई यूनिवर्सिटी नहीं थी!

मां चुपचाप सोच रही थी। वृंदा ने मां को पकड़कर पलंग पर लिटा लिया, “वही कथा कहो, मां!”

“कौन-सी?”

“वही, बंदिरिया और राजकुमार वाली कथा।”

प्रसन्न मां कथा कहने लगी। वृंदा जैसे उस कथा की एक-एक बात को पकड़कर चलने लगी, “एक था राजा। उसके थे तीन राजकुमार। राजा अपने तीनों राजकुमारों को लेकर बाग में गया। कहा—अपने-अपने धनुष-बाण चलाओ। बड़े राजकुमार ने बाण चलाया। बाण से छूटा हुआ तीर बहुत दूर एक राजा के राजमहल में जा गिरा। राजा ने कहा—तुम्हारी शादी इसी राजा की राजकुमारी से होगी। इसी तरह मझले राजकुमार का तीर एक दूसरे राजा के राजमहल में जा गिरा। उसकी शादी वहां पक्की हो गई, पर सबसे छोटे राजकुमार का बाण एक पेड़ पर जा गिरा। उस पेड़ पर एक बंदरिया रहती थी। सो उस छोटे राजकुमार की शादी उसी बंदरिया से हुई।

“दोनों राजकुमार अपनी-अपनी रूपवती रानियां लेकर राजमहल में आए। छोटा राजकुमार अपनी बंदरिया लिये राजमहल में आया। बंदरिया को राजकुमार की पत्नी के रूप में देखकर सभी हंसते। उसका खूब अपमान होता।

“एक दिन बड़े राजकुमार ने अपनी शादी की खुशी में दावत दी। दूसरे दिन मझले ने दावत दी। छोटा राजकुमार चिंता में डूबा बैठा था। तब बंदरिया ने अपने पति से पूछा—आप किस चिंता में पड़े हो? राजकुमार ने बताया—सबने दावत दी। अब मैं कैसे दावत दूं?”

“बंदरिया ने कहा—आप भी शौक से दावत दीजिए। मैं प्रबंध करती हूं।

“बंदरिया ने सारे व्यंजन बनाए। सबसे ज्यादा धूम-धाम से छोटे राजकुमार के यहां दावत हुई। सब हैरान! रात को उसने देखा अपने रंगमहल में बंदरिया की जगह एक अपूर्व सुंदरी! परम-लावण्यमयी नारी—सर्वांग-सुंदरी।

“सुबह के वक्त फिर वही बंदरिया। वह रूपसी अदृश्य। राजकुमार कुतूहल से भर गया। उसकी जिज्ञासा की कोई सीमा नहीं। और अचानक एक रात राजकुमार ने देखा छिपकर। बंदरिया ने अपने शरीर के चमड़े का खोल उतारकर खूटी पर टांगा और वह रूपसी, अर्न्ध सुंदरी के असली रूप में राजकुमार के पास। राजकुमार के आश्चर्य की कोई सीमा नहीं।

“दिन बीतते गए। राजमहल के लोग आश्चर्य में डूबे हुए कहते—अरे देखो तो छोटा राजकुमार कितना प्रसन्न है अपनी बंदरिया के साथ! भला वह कैसे खुश है! कहां वह राजकुमार और कहां वह बंदरिया! पर लोगों को उस गहरे रहस्य का क्या पता!

“छोटा राजकुमार सोचने लगा कि क्या उपाय करूं कि अपनी परम सुंदरी स्त्री को अब और उस बंदरिया के रूप में न देखना पड़े। उसने उपाय सोच लिया। एक रात उसने बंदरिया के चमड़े के खोल को बाहर ले जाकर जला दिया। यह देखकर रानी बहुत तड़पी, बहुत रोयी और उसने कहा—अब मैं इस कमरे से बाहर नहीं निकलूंगी।

“क्यों?”

“राजकुमार के इस प्रश्न के उत्तर पर वह बोली...”

वृंदा की आंखों से झर-झर आंसू बह रहे थे। मां की कथा रुक गई।

“का है री, बेटी?”

वृंदा चुप थी। आंखें भरी हुईं...

यूनिवर्सिटी में जगदंबाप्रसाद इतिहास के अध्यापक। बी०ए० आनर्स में इतिहास ही तो पढ़ने गई थी उनसे वृंदा। तब से अब तक कितना रास्ता तय हो चुका है। जगदंबा ही तो मानो पहले राजकुमार थे, जिनका बाण वृंदा को लगा। उसी से बिंधी हुई वह अपने शहर को छोड़ इतनी दूर उस यूनिवर्सिटी में गई।

तुम सोओ वृंदा, मैं तुम्हें यह किताब पढ़कर सुनाता हूँ।

कितनी किताबें इसी तरह जगदंबा ने पढ़कर सुनाई हैं। फिर उसी पलंग पर साथ सोकर उन किताबों पर न जाने कितनी देर तक बातें हुई हैं—शौर्य की बातें, इतिहास-दर्शन की बातें, त्याग, ईमानदारी और चरित्र की बातें...

“वृंदा, क्या तुम्हें मेरे प्रेम पर विश्वास नहीं है?”

“तुम यह प्रश्न क्यों करते हो? मैं तो कभी स्वप्न में भी नहीं अविश्वास कर सकती तुम पर... कितने सौभाग्य की बात है कि इस दुनिया में तुम हो। तुम माने आप। आप माने ‘सर’... ‘सर’ माने तुम...” हंसी! आह्लाद!

मां उठकर चौके में चली गई थी। वृंदा वहीं पलंग पर उन्मुक्त भाव से लेट गई थी। जैसे वह गहरे जल के ऊपर सोई पड़ी हो।

फरवरी के दिन थे। एम० ए० फाइनल में एक अजीब तरह की ठंड और खामोशी थी। छात्र-छात्राओं की धीमी-सी हंसी और सामान्य लक्षण बन जाने वाली एक खांसी सुनाई दी।

“खामोश रहिए, आप लोग नहीं जानते, मेरा नाम है जगदंबाप्रसाद।” सब खामोश थे।

न जाने क्यों जगदंबाप्रसाद एकाएक गुस्से में भर गए, “राममनोहर यादव, यू गेट अप! गेट ऑउट ऑफ द क्लास!”

अंगीठी में, जले हुए फूस की राख के ठीक बीच में, हल्की-सी सांस की तरह एक नन्हीं चिनगारी राममनोहर यादव के चेहरे पर मुलगती रह गई थी। उसे केवल वृंदा ने देखा था।

राममनोहर यादव जगदंबा की जन्मभूमि का है। उसने बताया कि जगदंबा बाबू विवाहित हैं। उनके दो बच्चे हैं। पत्नी से अब कोई संबंध नहीं है। बच्चों समेत बेचारी नैहर में रहती है। खर्चा-पानी भी नहीं भेजते।

“क्यों सर, यह सही है?”

“किसने कहा? यह झूठ है। मेरी कभी शादी-वादी नहीं हुई। वृंदा, मेरे जीवन में तुम पहली और अंतिम हो। मैं तुमसे... ईश्वर साक्षी है...”

“ठीक है, सर!”

“देखो वृंदा, कितनी बार कहा, तुम मुझे ‘सर’ न कहा करो। इसमें बनावट है, दूरी का अहसास होता है।”

एक संपूर्ण मुसकान खिलती है दोनों के मुख पर। हमेशा, इसी तरह, ऐसे क्षणों पर। पर उस दिन ‘सर’ का चेहरा बिलकुल स्याह पड़ गया था।

“तो क्या हुआ सर, अगर यह बात सही भी है, तो भी... आई डॉट

माइंड।”

एक लंबी खामोशी, जो शायद स्वीकार के पास पहुंच चुकी थी, फिर टूटकर लौटी, “नहीं, मैं कभी झूठ नहीं बोल सकता और तुमसे ! तीन वर्षों से तुम्हारे साथ जिस मधुर बंधन में बंधा हूँ, केवल वही सच है।”

“जो अप्रिय है वह भी सच है, सर !”

वृंदा की इस हल्की-सी बात ने जैसे फूस के ढेर में आग लगा दी हो, “तुम्हें बताना होगा तुमसे यह किसने कहा ?”

“मैं नाम बता सकती हूँ, पर वचन दें उस पर आप जरा भी नाराज न होंगे ?”

“वचन देता हूँ।”

“राममनोहर यादव।”

उसी रात त्रिवेकानंद हॉस्टल से राममनोहर यादव को तीन गुंडे उठा कर ले गए थे। दूसरे दिन वह यूनिवर्सिटी अस्पताल में ले आया गया था।

वृंदा जब उससे मिलने गई थी तब शाम हो चली थी। क्षितिज पर कालिमा-सी धिरती जा रही थी। उसके सामने जीवन में पहली बार माथा झुकाए वृंदा ने कहा, “मैं लज्जित हूँ, क्षमाप्रार्थी हूँ।”

यादव ने कहा, “आप ‘सर’ से सुरक्षित बच जाएं, यही मेरा संतोष होगा।”

अस्पताल से ठीक होकर वह घर जा रहा था। स्टेशन पर यादव को गिरफ्तार कर लिया गया। कुछ पता नहीं चला क्यों? झूठ में वृंदा के कान सुनते हैं ‘सर’ की वही बात—आप लोग नहीं जानते मेरा नाम जगदंबा प्रसाद है !

अचानक मां की आवाज टकराई, “चल कुछ खा ले, बिटिया !”

वह मां के गले में हाथ डालकर बोली, “बता मां, रानी ने बंदरिया की खाल में अपने को क्यों छिपा रखा था ?”

“अरे, उस पर शाप था।”

“नहीं, मां !”

“तू बता।”

“मां, वह रानी अपनी बंदरिया की खाल के लिए क्यों इतना दुःखी

हुई ? उसके बिना अब वह कमरे से बाहर ही नहीं निकलेगी ?”

“अरे कथा है, कथा।”

“फिर वही कथा कहो, मां !”

“अच्छा, चल पहले पेट भर खा ले, फिर...”

वृंदा ने खूब पेट भर खाया। मां के मुख से फूटा, “अरे जो सच्चा है, उसके ऊपर कोऊ चाहे जेतना दूसरे के खाल ओढ़ाई दे तो का ?”

“वह खाल के लिए इतना तड़पी क्यों है, मां ?”

“बंदरिया की खाल में भी तो जान थी, बेटी !”

“अच्छा मां, फिर क्या हुआ ?”

मां फिर उसके आगे कथा कहने लगी। वृंदा कई दिनों बाद गहरी नींद में सो गई। सपने में क्षण भर के लिए उसकी आंखों के सामने ढलता सूरज अपनी सारी उदासी के साथ आ खड़ा हुआ।

कथा बिसरजन

बाहर के अंधेरे और दरवाजे की ओट में पैसठ साल की अइया दीवार के सहारे अब तक खड़ी थी। बड़ी बहू से बेतरह डांट खाने के बाद से अइया लकड़ी की पुतली की भांति उस घर में इधर से उधर डोलती रह गई थी।

कुसुम आज इतनी देर से घर लौटी है। दरवाजे पर ही कुसुम को अपने अंक में लेकर अइया ने पूछना चाहा, 'अरे नातिन बेटी, स्कूल में आज क्या हो रहा था रे? इत्ती देर क्यों की? हाय, किन्ती भूखी-प्यासी है रे'...पर अइया से आज कुछ न पूछा गया। बस, कुसुम का मुंह देखकर निहाल हो गई।

कमरे में आकर कुसुम ने रोशनी जलाकर अइया का मंह देखा।

"यह क्या, तुम्हारे हाथ इतने ठंडे, अइया!"

"मेरा हाथ अब क्या गर्म रहेगा रे?"

"क्यों?"

"इतनी बूढ़ी हूं!"

"नहीं, अइया! तुम्हें बादलों की हवा लग गई है शायद! चलो, बिस्तर पर सो जाओ!"

कुसुम अपनी बूढ़ी अइया को शाल के भीतर ढककर और अपने शरीर के ताप से गरम करके बोली, "आज इतनी उदास क्यों हो? किसी ने फिर कुछ कहा है?"

"नहीं रे..."

"तो..."

अचानक मां की आवाज सुनाई दी, "इस लड़की से मैं तंग आ गई। आते ही अपनी अइया की खाट में घुस गई। न जाने कब इसे अकल आगी...! अइया को भी कुछ समझ है न बूझ...!"

मां को इस तरह कमरे में देखकर कुसुम डर गई।

मां ने डांटते हुए कहा, "चल, उठती है या नहीं? चल, पहले कपड़े बदल।"

अइया ने कहा, "अहा, जरा आराम करने दो न, किन्ती थकी है!"

मां ने कुसुम का हाथ पकड़कर उसे खाट से नीचे झटक दिया, खींचती हुई बाहर ले गई।

अइया का साहस कम नहीं था। मुंह में एक भी दांत न था। इतनी दुबली-पतली काया, पर आंखों में न जाने कहां की चमक, तेजी से बहू के पास जाकर बोली, "मेरी कसम तुम को, अपना गुस्सा मुझी पर दिखाना। खबरदार, कुसुम को अगर कुछ कहा! जो कुछ कहना है मुझे कहो।"

लखनऊ शहर के उस पंचबंगलिये के एक बंगले में धीमे-धीमे यह सब पिछले एक साल से हो रहा था। इसके पहले अइया अपने छोटे लड़के मदन गोपाल के परिवार के साथ कानपुर में थी। उससे भी पहले अइया अपने गांव में रहती थीं—माझेताल जिला फैजाबाद, डाकखाना सिमरी बाजार।

आज करीब चालीस-बयालीस साल पहले की बात है...बाईस साल की उम्र में विधवा अइया ने अपने उसी गांव माझेताल में ही रहकर अपने दोनों लड़को—मदन गोपाल मिश्र और रामगोपाल मिश्र को एम०ए० तक पढ़ाया था। अइया सिमरी बाजार की कन्या पाठशाला में अध्यापिका थीं। कुल दस बीघे खेत थे। एक ओर खुद खेतीबारी का काम देखती थीं, दूसरी ओर रोज तीन कोस की दूरी पर पाठशाला की वह नौकरी करती थीं।

सो, बड़ा बेटा रामगोपाल हुआ डिप्टीकलक्टर और छोटा हुआ आबकारी महकमे में इंस्पेक्टर।

आज वही रामगोपाल डिप्टीकलक्टर से ज्वाइंट सेक्रेटरी होकरस 'च-बंगलिया' के एक बंगले में सपरिवार रह रहा है। तीन संतानें हैं रामगोपाल की। बड़ा बेटा एम० ए० पास कर 'कंपीटीशन' में बैठने की तैयारी कर रहा है। मझला बी० ए० फाइनल में है और सबसे छोटी है वही कुसुम, दसवीं कक्षा में पढ़ रही है।

अइया की आदत कहे या स्वभाव, वह घर के भीतर नहीं बैठ सकती। बस, या तो घर के बरामदे में बैठेंगी या दरवाजे पर। वह भी किसी कुर्सी, मोढ़े पर नहीं, जमीन पर भी नंगे फर्श पर। मेज-कुर्सी, सोफा-टेबल आदि से इन्हें कोई रुचि या लगाव नहीं। बस, सबसे प्यारी है जमीन, धम्म से बैठ जाएंगी। इन्हीं बातों पर छोटे लड़के मदन गोपाल के मझले लड़के विजय ने अइया के ऊपर दो बार हाथ उठा दिया था। मदन गोपाल को भी असुविधा होने लगी थी माई से। मदन गोपाल की पत्नी शांति को कष्ट होने लगा था सासुजी से। पर वाहरे अइया, कभी किसी से कोई शिकायत नहीं। कोई गिला-शिकवा नहीं। जो मिला वही स्वीकार, जो नहीं मिला वह भी स्वीकार। जैसे कहीं कोई अधिकार नहीं। केवल कर्त्तव्य। दिन भर में न जाने कितनी बार उनके मुंह से निकलता, "हानि-लाभ, जीवन-मरण, जस-अपजस विधि हाथ!"

बड़े लड़के रामगोपाल बड़े प्रेम और विश्वास से माई को कानपुर से लखनऊ ले आए थे। यूँ माई का दोनों बेटों के घर आना-जाना तो लगा ही रहता था। पर जब से अइया का अपने गांव-गढ़ी से संबंध टूटा, तब से वह अपने वही दोनों बेटे, बेटों की बहुएं और उनके बच्चे, वही सारा संसार।

डिनर टेबल पर कुसुम को बिठाकर मम्मी ने कहा, "मैनसं सीखो, चुपचाप डिनर टेबल पर खाना खाओ।"

कुसुम बोली, "अइया ने आज सुबह से कुछ नहीं खया है।"

"तुझे कैसे मालूम?"

"अइया का मुंह देखकर..."

"कितनी बार कहा है, अइया-फइया मत कहा करो। सीधे से दादी कहो, मगर देहाती कहीं के...! सीधे से खाती हो या नहीं?"

कुसुम चुपचाप खड़ी थी। उसकी आंखें आंसुओं से भरती जा रही थीं। अइया ने आकर कुसुम को संभाल लिया। "चल कुसुम, यहीं खा ले। मां की बात नहीं टालते। ले खा ले, मेरी प्यारी कुसुम!"

अइया के हाथ से अन्न का वह कौर मुंह में लेकर कुसुम अइया का मुंह निहारने लगी। मम्मी वहां से हट गई थीं।

कुसुम अइया के पास बैठी खाती हुई सोचने लगी... हाय कौसी सीधी-सादी हैं अइया! कहीं कोई विरोध नहीं। कहीं कोई गांठ नहीं। जो भी कुछ कहता है, अइया कैसे चुपचाप मान जाती हैं। कैसे सब कुछ सह लेती हैं, किसी के खिलाफ मुंह तक नहीं खोलतीं।

कुसुम के सामने जैसे कोई तसवीर खुली हो। अइया ने लखनऊ के इस बंगले में आकर जब पहली बार अपने ठाकुरजी का भोग लगाया था और सारे घर को प्रसाद बांटा था, तब मम्मी को अच्छा नहीं लगा था। मम्मी ने पापा से कहा था, "यह क्या तमाशा है। खुलेआम इस तरह प्रसाद बांटा जाए। पूजा-पाठ व्यक्तिगत चीज है, इससे दूसरों को क्यों जोड़ा जाए? देखो न ड्राइंग रूम में उस समय कितने लोग बैठे थे। धड़ाम से प्रसाद लिये ड्राइंग रूम में घुस गईं। यह कोई अच्छी बात थोड़े ही है। कोई क्या कहेगा... मिश्राजी का परिवार कितना देहाती है! वह कोई गांव तो है नहीं। सारा कुछ तो मुझे देखना पड़ता है।"

पापा ने अइया से तब कहा था, "माई देख, ठाकुरजी का भोग तो ठीक है। पर इस तरह प्रसाद बांटना ठीक नहीं है। तुम्हारी बहू जी ठीक कहती हैं माई, चुपचाप ठाकुरजी का भोग अपने कमरे में ही लगा लिया करो।"

"और प्रसाद?"

"अरे प्रसाद तो प्रसाद है, जिसकी इच्छा होगी, वह खुद तुम्हारे पास आकर ले लेगा।"

उस दिन से अइया चुपचाप अपने कमरे में ही अपने ठाकुरजी को भोग चढ़ाती हैं और प्रसाद लेती है कुसुम, पूरे घर में केवल कुसुम और अइया प्रसाद बांटती हैं बंगले में आती चिड़ियों को, कमरे में रेंगती चींटियों को !

फिर दूसरी समस्या घर में यह उठी कि बंगले में आने-जाने वाले लोगों, खासकर उनकी स्त्रियों के सामने अइया आये या नहीं !

मम्मी और पापा दोनों इस बात पर सहमत हो गए कि बूढ़ी मां का दूसरों के सामने आने-जाने का क्या मतलब ! पर पापा ने मम्मी समेत पूरे घर को सचेत किया कि माई को इस बात का पता नहीं लगना चाहिए । हां, यह सब व्यवहार बहुत होशियारी और चतुराई से होना चाहिए, हां !

पर उस बंगले के घर-परिवार में सबसे बड़ी समस्या उठी अइया के रामायण पाठ से !

सब कुछ छोड़ सकती थीं अइया पर रामायण पाठ नहीं छोड़ सकती थीं । इस बात को केवल कुसुम जानती है । धीरे-धीरे गाकर रामायण पाठ करना, फिर भावविभोर होकर अइया का यह आत्मनिवेदन कैसा हृदय-ग्राही था —

कथा बिसरजन होत है सुनो वीर हनुमान,
राम लखन मां जानकी सदा करहु कल्याण ।
जो जन जहां से आयहु कथा मुनी मन लाय,
अपने-अपने भवन को हरसि जाहु सुख पाय***

पहले अइया से कहा गया कि संध्या समय रामायण पाठ नहीं हो सकता । साहब दफ्तर से थके-मादे घर आते हैं । उन्हें आराम और शांति चाहिए ।

“हां, ठीक कहती हो, बहू ! मेरे बेटवा को आराम और शांति चाहिए !” अइया मान गई । सञ्जाती समय से रामायण पाठ का समय बदलकर रात के साढ़े आठ बजे कर लिया ।

कुछी दिनों चला कि बड़े भइया ने कहा कि उन्हें ‘डिस्टर्ब’ होता है । कम्पीटीशन की पढ़ाई है, कोई मज़ाक नहीं है ।

इस बात पर कुसुम और बड़े भइया के बीच झगड़ा हुआ था । कुसुम

के मुंह से जैसे ही निकला कि पाँप म्युजिक से उन्हें डिस्टर्ब नहीं होता, तो पापा सहित पूरे घर ने बड़े भइया का पक्ष लिया था, अपनी-अपनी पसंद है !... बड़े भइया की जिदगी का सवाल है !... कोई गलत कहेगा !... क्या है रामायण पाठ में... वही रोज-रोज... कथा बिसरजन होत है... ! आसपास के लोग हमारा मज़ाक उड़ाते हैं... !

“तो सोने से पहले अइया चुपचाप पाठ कर लिया करें ?”

“चुपचाप ?”

“हां माई, चुपचाप !”

“चुपचाप कैसे, बेटवा ?”

“मन में !”

“मन में... मन क्या चीज़ है रे ?”

न जाने कितने दिनों, कितने वर्षों बाद मां-बेटे में उस दिन अचानक संवाद छिड़ गया था ।

“बड़का बेटवा, बता न मन क्या चीज़ है ?”

बड़े बेटवा... ज्वाइंट सेक्रेट्री रम गोपाल मिश्र, माई का मुंह देखते रह गए ।

“मन कहीं चुपचाप रहता है, बेटवा !”

“तो माई... ?”

“वही राम चाहें तो मन कटे । मन न कटे तो कुकुर-बानर की तरह मनुष्य मारा-मारा फिरे !”

बड़े बेटा रामगोपाल माई के सामने ठहर नहीं पाए । अपनी पत्नी के सामने खीस निपोरकर बोले, “बहुत बोलने लगी है माई, लगता है अब ज्यादा दिन की मेहमान नहीं है ।”

पत्नी ने अजब ढंग से कहा, “ऐसा क्यों मुंह से निकालते हो । बड़ी-बुजुर्ग हैं, परम पूज्य हैं ! तुम्हारी मां हैं तो मेरी भी मां हैं, बड़े-बूढ़ों का साया... !”

पतिदेव पत्नी का मुंह देखने लगे ।

एक अजीब ठंडा सन्नाटा उनके बीच खिंच गया । आईने के सामने खड़े होकर अपनी मूंछों में सफेद बाल काटते हुए मिश्रजी ने कहा, “जितनी

इच्छा थी, माई की सेवा नहीं कर सका। चारों धाम भी नहीं करा सका... सिर्फ बट्टीनाथ और जगन्नाथ धाम। नौकरी ऐसी है कि...! माई के साथ भी नहीं उठ-बैठ पाता। इतने दिनों से घर में है। हमारे साथ है। पर माई "हम क्या दे पाए माई को!"

पत्नी बोली, "तो किसने मना किया है?"

पति ने कहा, "यही तो समझ में नहीं आता सुधा, किसने मना किया है। हमारे बीच में वह अदृश्य बाधा कहां है, क्यों है? माई के साथ हमारा व्यवहार..." पति अचानक पत्नी के सामने से हट गए।

सुधा ने कहा, "सुनो, माई ने कुछ कहा है तुमसे?"

"नहीं तो!"

"नहीं, कुछ जरूर कहा है!"

"सुधा, माई कहां कुछ कहती हैं। एक साल से ज्यादा हो गया माई को हमारे साथ रहते। बताओ, बोलो, कभी किसी को कुछ कहा है माई ने?"

"हां, सो तो है!"

"हम सबने केवल अपनी सुविधा देखी है।"

सुधा को यह बात अच्छी नहीं लगी, "क्या मतलब?"

"कुछ नहीं!"

सुधा ने कहा, "तुम समझते हो, अइया सिर्फ तुम्हारी मां हैं?"

"इसमें समझना क्या है!"

"क्या कहा?"

"मुझे जाना है। दफ्तर के बाद एक मीटिंग भी आज है!"

मिश्रजी जाने लगे। सुधा ने पति के सामने लौंग, इलायची बढ़ाते हुए कहा, "जिसे चौबीस घंटे घर में रहना पड़ता है, जिसे सब कुछ देखना पड़ता है... अपने बच्चों के भविष्य से लेकर पास-पड़ोस तक, उसकी मजबूरी भी तो कोई देखे।"

"मैंने तो ऐसा कुछ नहीं कहा!"

"कहा नहीं, उस दिन नहीं कहा कि माई के प्रति हमारा व्यवहार ठीक नहीं है। क्या ठीक नहीं है? तुम खुद अपनी माई के साथ क्यों नहीं

उठते-बैठते? माई के साथ रहो, पूरा एक दिन एक रात। क्यों नहीं रहते? किसने मना किया है? इतनी छुट्टियां तो बाकी हैं... माई को साथ लेकर तीर्थयात्रा पर क्यों नहीं जाते। हंअं, बड़ा आसान है फतवा देना, हमारा व्यवहार ठीक नहीं है!"

सहसा मिश्रजी ने देखा, माई आकर पीछे खड़ी है।

"माई!"

"का बात है, बेटवा? बहू, का बात है?"

"कुछ नहीं, माई!... अच्छा, मैं जा रहा हूँ!"

"नहीं, रुक जा, बेटवा! मेरी वजह से कोई कष्ट है?"

"क्यों, माई?"

"अगर मेरी वजह से कोई कष्ट हो गया तो मेरा जीना बेकार है।"

"और तुम्हें कष्ट हो गया माई, तो हमारा जीना बेकार है।" मिश्रजी हंसते हुए तेजी से बाहर निकल गए। माई के चेहरे पर प्रसन्नता छा गई।

"क्यों बहू, बेटवा का बात कर रहा था?"

"ऐसे ही माताजी, कोई खास बात नहीं।"

"मेरी बातें कर रहे थे तुम लोग। मैंने सब सुना है। बहू, तुमने बिलकुल सही कहा... बड़ा आसान है फतवा देना, तुम पर कितनी जिम्मेदारी है। सब कुछ तुम्हें ही तो देखना है। सब मेरे ही बच्चे तो हैं। सब कुछ मेरा है, बहू! सबको मेरा प्यार आशीष!"

कुर्सी पर विठाकर सुधा बहू अइया के सिर पर तेल लगाने लगी। अइया बोली, "कभी किसी चीज का दुख नहीं करना, बहू! मुझसे कुछ छिपाना नहीं। हम तो पके फल हैं, किसी दिन डाल से छूट गए।"

सुधा बहू की आंखें भर आईं। कुछ कहना चाहा पर कंठ से फूटा नहीं। तभी स्कूल से कुसुम आयी, "मम्मी, अइया की चोटी मैं करूंगी।" कुसुम ने अइया का सिर चूमते हुए कहा, "अइया, जब तुम मेरी उम्र की थीं, कैसी थीं?"

"तब मेरी शादी हो चुकी थी!" अइया हो-हो करके हंसने लगी थीं।

दशहरे का दिन था। शाम का वक्त था। अइया का कमरा भीतर से बन्द था। कुसुम ने आवाज़ दी, “अइया ! ओ अइया !”

कोई जवाब नहीं।

हल्के-से किवाड़ खोलकर कुसुम अंदर गई। अइया के सामने रामायण खुली थी, मुदरकाण्ड। अइया आंखें मूंदें चुपचाप बैठी थी।

कुसुम को अपने पास अनुभव कर अइया की आंखें खुल गईं।

“अइया, क्या कर रही थीं ?”

“पाठ कर रही थीं...”

“चुपचाप आंखें मूंदें ?”

“हां रे कुसु, चुपचाप मन-ही-मन रामायण पाठ...”

“क्यों ?”

“ऐसे ही करना चाहिए, किसी को विघ्न नहीं होता।”

“विघ्न ?”

“हे राम !”

“मतलब, पापा ने कहा है...मम्मी ने कहा है...भइया ने...”

कुसुम के तप्त मुंह पर अइया ने हाथ रख दिया, “नहीं रे कुसु, शोर नहीं करते। बड़ा भइया पढ़ रहा है। बड़ा अफसर का इम्तिहान पास करेगा। तेरी मम्मी अभी सोई है। थक जाती है। कितना काम करती है। तेरे पापा ड्राइंग-रूम में दोस्तों के साथ बैठे हैं। अरे, हमारा का है रे !”

ऐसा रोज़ होने लगा। संध्या वही साढ़े सात बजे। अइया अपने बंद कमरे में चुपचाप मन-ही-मन रामायण पाठ करतीं। मन-ही-मन निःशब्द कहतीं—

कथा बिसरजन होत है सुनो वीर हनुमान,
राम लखन सिय जानकी सदा करो कल्याण ।
प्रभुसन कहियो दण्डवत तूमहें कहैं कर जोरि,
बार-बार रघुनाथ कहि सुरत करायो मोरि !...
श्रोता निज-निज धाम गए, शंभु गए कैलास,
हनूमान प्रभु पंह गए, विनवत तुलसीदास ।

जो अक्षर जगदम्बिका भूल परे कहूं होय
आदि शक्ति भूधर सुता छिमा कियो सब सोय...”

कुसुम को पता है अइया कब सोती हैं, कब जागती हैं। कब उन्हें भूख लगती है। कब उन्हें चुपचाप रहना अच्छा लगता है। कब वह बातें करना चाहती हैं...पर इधर कुसुम देख रही है, अइया का सब कुछ व्यक्ति-क्रम होने लगा है।

कुसुम अइया के साथ ही सोने लगी हैं। पापा और मम्मी अइया पर पूरा ध्यान देने लगे हैं।

जाड़े के दिन बीत रहे थे। गहरी सोई हुई रात में सहसा कुसुम को लगा कि अइया कुछ गा रही हैं। उसने टेबल-लैम्प जलाकर देखा, अइया पलंग पर बैठी ध्यानमग्न निहायत हल्के स्वरों से अद्भुत सुर में गा रही हैं—

जो जन जहां से आयहु कथा सुनी मन लाय,
अपने-अपने भवन को हरपि जाहु सुख पाय ।
अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहें निर्वाण,
जन्म-जन्म प्रभुपद भगति यह वरदान न आन...”

...कुसुम ने देखा अइया न जाने किस अतल गहराई में डूबी हुई हैं। कमरे से बाहर चारों तरफ गहरा अंधेरा था। खुली खिड़कियों से निरभ्र आकाश में तारे छिटके हुए थे। पछुआ हवा चल रही थी। अइया के सफेद केश, खूटी पर टंगे अइया के कपड़े अनेक तरह की छाया फैलाते हुए रह-रहकर कांप उठते थे। अइया कितनी सुंदर लग रही थीं। वृद्धापन की शीर्णता ने अइया पर एक अजब आवरण चढ़ा दिया था। लगता था जैसे अइया संसार से बहुत दूर जैसे किसी अन्य लोक में हैं। कुसुम को अचानक लगा, अइया जैसा अकेला प्राणी संसार में कोई नहीं है।

धीरे-धीरे अइया का स्वर टूटने लगा। अइया बिलकुल चुप हो गईं। “अइया !” कुसुम ने बढ़कर अइया को थाम लिया। उनका सिर लुढ़कने लगा था।

“अइया !”

अइया की आंखें न जाने किस असीम लोक में मुंदी हुई थीं। अइया का दायां हाथ कुसुम के माथे पर कांप रहा था।

अइया को अपने अंक में सम्भाले कुसुम निःशब्द रोने लगी। अइया अब अपने उस पार्थिव शरीर में नहीं रह गई थी, फिर भी कुसुम को चिंता हुई कि अइया को कहीं किसी प्रकार का विघ्न न हो। कुसुम के पूरे अंतर्लोक में अइया के मौन स्वर गरज रहे थे—

कथा बिसरजन होत है सुनो वीर हनुमान,
राम लखन मां जानकी सदा करहु कल्यान...
जो जन जहां से आयहु कथा सुनी मन लाय,
अपने-अपने भवन को हरषि जाहु मुख पाय...!

पूरे घर-परिवार में अइया इतनी फैंली हुई हैं, इतने गहरे उतरी हुई हैं। यह सबको अइया के स्वर्गवाम के बाद पता चला। दोनों बेटों और बहुओं ने बड़े धूमधाम से अइया के क्रिया-कर्म किये। गांव-गद्दी, सारे नाते-रिश्तेदार अइया के कर्म में आए।

बड़े लड़के डिप्टी साहब रामगोपाल पूरे दो महीने की छुट्टी लेकर माई का अस्थि-विसर्जन करने कहां-कहां नहीं गए—हरिद्वार, रामेश्वर, कन्या कुमारी, द्वारिका, प्रयागराज...

माई बिना लखनऊ का वह बंगला इतना उदास होगा, इस तरह काटने दौड़ेगा, पापा-मम्मी को पता नहीं था...मम्मी और पापा ने तय किया कि लखनऊ से कहीं और तबादला हो जाए।

दिल्ली अच्छी जगह है, वहां सब कुछ अपने-आप भूल जाता है। बच्चों के भविष्य के लिए भी अच्छा रहेगा।

काफी दौड़-धूप, मेहनत-कोशिशों के बाद रामगोपाल मिश्र को दिल्ली में स्थान मिल गया।

मम्मी बहुत खुश...दोनों बेटे सबसे ज्यादा खुश। कुसुम अपनी अइया को एक क्षण भी नहीं भूल पा रही थी। वह चुप रहने लगी थी।

नई दिल्ली के सरकारी बंगले को नए सिरे से पापा-मम्मी ने सजाया। दोनों भइया बहुत खुश थे।

नई दिल्ली के उस नए घर में एक दिन बीता था। रात को अचानक

मम्मी की आंख खुली। पति को जगाकर कहा, "सुनो, यह आवाज कहां से आ रही है, देखो तो..."

पति-पत्नी बगल के कमरे से झाड़ंग रूम में गए। चारों तरफ अंधेरा था। स्टोर से सटा हुआ एक छोटा-सा कमरा था। पिताजी ने रोशनी जलाकर देखा—कुसुम आंख मूंदे रामायण पाठ कर रही हैं।

"यह क्या है?" दोनों ठगे-से आश्चर्यचकित देखते रह गए।

कुसुम ने यह गाते हुए पापा और मम्मी को देखा—कथा बिसरजन होत है सुनो वीर हनुमान...

"यह क्या तमाशा है?" गुस्से में मम्मी ने कहा।

"कुसुम, यह क्या करती हो, बेटी!" पापा ने बेहद ठंडे स्वरों में कहा। कुसुम के ओठों से अबाध स्वर फूट रहे थे—श्रोता निज-निज धाम गए, अंधु गए कैलाश, हनुमान प्रभु पहुंच गये विनवत तुलसीदास...!

“मैं अपने पात्रों द्वारा बनाया गया पात्र हूँ”

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के साथ अमृता प्रीतम की
अंतरंग बातचीत

अमृता : दोस्त, पहली बात यह पूछना चाहूंगी कि हाथ में कलम पकड़ने का हादसा आपकी जिंदगी में कैसे हुआ ?

लाल : (‘दोस्त’ शब्द सुनकर मेरी सजल आंखें अमृता जी के चरणों की ओर झुक गईं। कलम पकड़ने की अपनी स्थिति से कांप गया।) जिस चित्त से आपने ‘दोस्त’ कहा, यह वही श्रेष्ठ सुंदर चित्त है, जिसमें यह पूछने की क्षमता है ‘ततः किम्’ सच, ऐसा प्रश्न, इस संबोधन से आज तक किसी ने नहीं किया। भारतीय संस्कृति में इसी चित्त ने कहा था—‘वेदाहम्’—मैं जानता हूँ। ऐसा है वह जो सबके सुनने योग्य है। सच पूज्य अमृता, आप जो जानती हैं, वह मुझसे पूछकर एक गुरु की तरह मुझमें आत्मज्ञान का चिराग जलाना चाहती हैं।

उत्तर प्रदेश के जिला बस्ती के एक छोटे से गांव जलालपुर की एक पतली-सी नदी मनोरमा के तट पर बालक रूप में एक स्वर सुना था—यहां लोग ‘अपने आप’ को ढूंढते हैं और प्रसन्नमुख कहते हैं—सभी को आना होगा, ‘अपने’ को ढूंढने। बस्ती में प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त कर उस समय की ‘माधुरी’ पत्रिका में यह पढ़कर ‘आत्मानं विद्धि—अपने को

जानो, प्राप्त करो’ कई रात तक मुझे नींद नहीं आई। अपने को ढूंढो फिर उसे प्राप्त करो, इसका क्या मतलब है। और मुझ जैसे साधारण नवयुवक के जीवन में क्या अर्थ? मेरी ऐसी स्थिति भी नहीं कि मैं ‘इंटर’ के बाद आगे की शिक्षा के लिए कहीं बाहर निकल सकूँ। पर पता नहीं कैसे, किस अज्ञात शक्ति और प्रेरणा से मैं एक दिन अपने घेरे से बाहर निकल पड़ा। बस्ती से अनजाने नगर इलाहाबाद। पहले से कुछ भी पता नहीं था। न कोई संगी-साथी, न कोई मददगार, न कोई रास्ता सुझाने-बताने वाला। वही दुर्गम स्थिति, और विशेष परिस्थिति में मुझे बी० ए० प्रवेश का आदेश मिला। यह अगस्त सन् छियालीस की बात है। मेरे पास एक रुपया भी नहीं और एक सप्ताह के भीतर मुझे यूनिवर्सिटी में प्रवेश के लिए कुल दो सौ दस रुपये की दरकार थी।

मेरे पास कोई रास्ता नहीं था। मैं क्या करता? फिर मुझे वही स्वर याद आया। सभी को जाना होगा ‘अपने’ को ढूंढने। वह किसी विशेष मन की, व्यक्ति की, परिस्थिति की आवाज नहीं थी। मेरे अंतस के दबाव से फूटी हुई आवाज थी कि मैं अपने आपको पाने के लिए जब अपनी सीमाओं से बाहर निकला हूँ, तो सिर्फ अकेला मैं ही हूँ अपना। पर क्या कर सकता हूँ इतने कम समय में उतने रुपये प्राप्त करने के लिए? उस समय ‘पोस्टल स्ट्राइक’ चल रही थी। चिट्ठी-पत्री, तार, फोन, सब ठप्प। वह स्ट्राइक पूरे देश के जीवन को तथा मुझे असहाय बना रही थी। तर्क मुझ पर आघात कर रहा था। लगने लगा था ‘आवाज’ का तो कहीं अंत नहीं। कितनी आवाजों, स्वरों का कोलाहल आकाश को हिला रहा है। हां, यह बात तो है। बात सच भी है। सब प्रत्यक्ष भी है। सब तर्कयुक्त है। पर...पर...फिर भी, फिर भी, मेरे भीतर की एक आवाज क्षीण नहीं होती। मैं अपने से बाहर निकलता हूँ तो केवल ‘अपने’ ही सहारे। अपने उस परम अकेलेपन में कांपते हुए हाथ से पहली बार अपनी वह लेखनी पकड़ी थी, जिसने लगातार तीन रातों में किसी बंद दुकान के बरामदे में बैठाकर पहला उपन्यास लिखवाया था—‘रक्तदान’। उसी पांडुलिपि को दो सौ तीस रुपये में खरीदा था यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद, के प्रमोद पुस्तक प्रकाशन ने।

कलम पकड़ने के उन क्षणों ने तब से आज तक मुझे बार-बार याद दिलाते रहे हैं कि कलम पकड़ना अपने आप में एक आदर्श कर्म है। उसके आदर्श को सामने रखकर अपनी सारी छोटी-छोटी वासनाओं को अनुशासित करना है। अपनी कलम को जीवन के ऐसे आचार-अनुष्ठान से जोड़ा, जिससे 'अपने' को ढूँढ़ने और प्राप्त करने का सुफल हाथ लगे।

अमृता : खलील जिब्रान ने एक बार भरे हुए मन से कहा था—'मैं एक ऐसे पेड़ की तरह हूँ, जो अपने पके हुए फल के भार से थक गया। चाहता हूँ, कोई आए और इस फल को तोड़ ले, चख ले। और मैं इसके भार से मुक्त हो जाऊँ।' जरूर कभी ऐसा एहसास आपको हुआ होगा। कब हुआ और किस रचना की सूरत में अपनी आत्मा की अमीरी को बाँट कर एक राहत महसूस हुई ?

लाल : गाँव में मेरे घर के सामने मैदान में आम की बगिया में एक वृक्ष था आम का। बिलकुल हरा-भरा, पूरा, सुंदर और स्वस्थ। मैं तब करीब सात वर्ष का था। उस पेड़ के नीचे बैठा खेल रहा था। मेरी दादी जी दौड़ी हुई आईं और मुझे उस वृक्ष के नीचे से खींचती हुई बोली—'खबरदार, इस वृक्ष के नीचे कभी मत खेलना। यह असगुन है, अभागा पेड़ है, इसमें फल नहीं आता।'

जिसमें फल नहीं, वह अभागा, असगुन वृक्ष, उसके नीचे कोई नहीं जाता। उसकी हरी-भरी छाया में कोई नहीं बैठता। यह कैसी बात है! पर इस पर पंछी तो बैठते हैं। यह कितना छायादार है। पर छाया से क्या, अगर फल नहीं तो सब निष्फल। मैं दूर से ही उस आम के सुंदर वृक्ष को निहारता और सोचता रह जाता, यह कैसी अजीब बात है। फल नहीं तो जैसे यह आम का वृक्ष ही नहीं।

तब में दस साल का हुआ और देखा उस पेड़ में बौर आए हैं और वह पेड़ एक दिन फलों से भर गया। बहुत सारे लोग आए उस पेड़ के नीचे और उसके फलों को देखकर प्रसन्न हो गए।

अब तक उस वृक्ष का कोई मालिक नहीं था, अब सारा गाँव उसका मालिक हो गया। जो आता, डंडा मारकर फल तोड़ ले जाता। बच्चे, जवान उस पर चढ़े रहते। और दिनभर उस पर डंडे, ईंट-पत्थर से मार

पड़ती। मार के जवाब में अब वह फल देता। बड़ा ही मीठा फल। फल आने से अब उसका अभागापन दूर हो गया। अब वह सगुन वृक्ष हो गया।

तब फल आने से वह इतना पिटा, इतना तोड़ा और लूटा गया कि अगले दो वर्षों तक उसमें फिर फल नहीं लगे। तब वह फिर अभागा हो गया। जब तीसरे वर्ष फिर उसमें फल आए तो वह फिर सुभागा हो गया।

इस घटना की मेरे किशोर हृदय पर बड़ी गहरी छाप पड़ी। तब से मैं बराबर सोचने लगा कि वृक्ष अपने आप में कुछ नहीं है। उसका सारा मूल्य उसके फल में है। यह कैसा स्वार्थ है? पर उस वृक्ष का भी तो अपना स्वार्थ है। तो स्वार्थ ही फल है।

जब बड़ा हुआ, पढ़-लिखकर और जीवन का थोड़ा अनुभव पाकर वयस्क हुआ तो सोचने लगा—यह फल क्या है ?

फल माने नतीजा, परिणाम। उस वृक्ष का नतीजा और परिणाम तो यह था कि फल आते ही उसे पीटा जाता। उसे इतनी चोट मिलती। पर वह तो परिणाम था उस फल का। तो फल क्या है? जो जिसका श्रेष्ठतम है, वह दूसरों को दे। छाया, उसकी हरी-भरी पत्तियाँ, उसकी लकड़ी यह क्या उसका फल नहीं है? वह वृक्ष, उसका अपना निराला अस्तित्व, यह क्या उसका फल नहीं है? नहीं, फल वह है जो उसमें फलित हो, उसके भीतर से बाहर आ लगे। और लोग उसका उपभोग कर सकें। पर उस फल के प्रसंग में, उस वृक्ष का भोग क्या है? उसे क्या मिला अपने उस फल से ?

वृक्ष और फल के इस प्रश्न पर सोचते-सोचते, अपने जीवन, समाज, राजनीति, अर्थनीति को देखते-देखते मुझे एक बड़ी चीज हाथ लगी। ऐसी चीज जो हमारे जीवन, चरित्र और हमारी संस्कृति की बुनियाद है। इससे अचानक मुझे अपने भारतीय चरित्र और उसके जीवन-दर्शन का रहस्य प्राप्त हुआ।

जब किसी वृक्ष में फूल खिल उठता है तब लगता है जैसे वह फूल ही वृक्ष का एकमात्र लक्ष्य हो। लेकिन यह बात उस फूल में छिपी रहती है कि वह फूल दरअसल फल लगने का एक उपलक्ष्य मात्र है। फिर भी वह फूल अपने वर्तमान के गौरव में आनंदित रहता है। भविष्य उसे डराता

नहीं। और फूल से एक दिन फल लगने पर उस फल को देखकर लगता है जैसे वही अंतिम लक्ष्य हो वृक्ष का। पर नहीं, वहाँ भी यह बात छिपी रहती है कि फल अपने गर्भ में भावी वृक्ष का बीज पका रहा है। वृक्ष को, फूल और फल को परिश्रम कहां करना पड़ता है वह तो आनंद है, सौंदर्य है, पराप्रकृति है जिसमें वह सहज ही अपनी भूमिका अदा कर रहा है। वृक्ष अपना स्वधर्म पूरा कर रहा है।

फल में जब रस भर जाता है, और उसका गूदा रस में पककर तैयार हो जाता है, तब वह पका हुआ फल एक दिन अपने आप वृक्ष से अलग होकर पृथ्वी पर चू पड़ता है। अपने बीज को फिर उसी पृथ्वी में दे देने के लिए ताकि एक नया वृक्ष उग सके। बीज, वृक्ष, फूल और फल अंत में फिर वही बीज, यह है वृत्त और रचनागति जो संगीत की तरह अबाध गति से मुझमें चल रहा है।

यही अहसास मुझे अक्सर रहा है कि मैं स्वयं अपने गांव वाला वही पेड़ हूँ। उसकी जो गति रही है, वही मेरी है। सिर्फ कुछ को छोड़कर, जिसे मैंने किसी और दबाव में लिखा है, बाकी जो लिखता हूँ, वह स्वयं रचना होती है, सहज—जैसे उपन्यासों में—'बड़ी चंपा छोटी चंपा', 'मन-वृंदावन', 'पुरुषोत्तम'; नाटकों में—'अंधा कुआं', 'व्यक्तिगत', 'बलराम की तीर्थ यात्रा', 'कथा विसर्जन' आदि।

अमृता : आपकी रचना 'मन वृंदावन' मुझे लगता है, जैसे अंतर्ध्वनि की तरह आपके भीतर से उठी है। नया यह मात्र मेरा अहसास है या आपका भी ?

लाल : आपका अहसास बिलकुल सही है। आपका अहसास मेरा अहसास है। यह ऐक्यबोध ही तो आपको इतना श्रेष्ठ, ईमानदार लेखक बनाए रखता है। अपने चैतन्य को जो सभी के अंतर में स्थित पाते हैं, वही तो जानती हैं। आप वहीं हैं, तभी अहसास की बात आप पूछ रही हैं, अमृता जी।

अपनी बात कहूँ—'मन वृंदावन' के प्रसंग में। मुझ जैसे सहज—साधारण लेखक—'मन वृंदावन' जैसी कृतियों द्वारा ही अपना परिचय, पहचान दे पाते हैं। अर्थात् एक-दूसरे के द्वारा—सुबंधु, हिरण्यमयी, सुगन,

पतितराम के द्वारा। पृथ्वी पर ऐसे बहुत कम लेखक—रचनाकार या पुरुष हुए हैं जो अपने आप प्रकाशवान हैं, जिनका आलोक, प्रतिबिंबित आलोक नहीं। मेरा यही अहसास है। मैं अपने पात्रों के प्रतिबिंबित आलोक से प्रकाशवान हूँ। मैं अपने पात्रों द्वारा बनाया गया पात्र, अपनी मिट्टी का पात्र हूँ। यही अनुभूति मेरी अंतर्ध्वनि है जो 'मन-वृंदावन' जैसी रचनाओं में उठी है। पतितराम, सुबंधु, सुगन और हिरण्यमयी के ही प्रकाश में देखा है कि अपना मन अगर दिख जाए अपने आपको तो वह मन कट जाता है, मन से मुक्ति ही वृंदावन है। अगर मन से मुक्ति नहीं, मन के ही संसार में जो बंदी है, फिर तो वही है कुरुक्षेत्र-लड़ाई का मैदान। नरक की दुनिया।

अमृता : कुछ व्यक्तिगत प्रभाव आपकी आत्मा में समाए हुए होंगे, कुछ उनकी बात कहिए। वे प्रभाव चाहे मुहब्बत की सूरत में, या ममता के या चिंतन की सूरत में। लेकिन बात कुछ ऐसे क्षणों की कहिए जो आपके मन-मस्तिष्क में अमिट हो गए हों।

लाल : बचपन में, जब से होश हुआ, तब से लेकर जीवन के करीब पच्चीस वर्षों तक, जो हृदय से चाहा, जिसकी कामना की, जिनके स्वप्न देखे, वे कभी प्राप्त नहीं हुए। सोचा, शायद यही जीवन है। अपने आस-पास गौर से देखा, पाया कि प्रायः सबकी यही दशा है। फिर तो पक्का हो गया कि यही जीवन है। एक क्षण अपनी कल्पना की एक सुंदरी मित्र से मैंने पूछा, "आप अपने जीवन से सुखी हैं?" उन्होंने मेरे होंठों को चिंगोटी काटकर कहा, "बताओ न, जीवन क्या है?"

मैं एकटक उनका मुख निहार रहा था। वह अपने जूड़े से फूल खींचकर उसे तार-तार करती हुई कह रही थी, "जो जहां है अपने जीवन में वह हर वक्त यही सोचता है कि वह अपनी सही जगह नहीं है, पर दरअसल वह अपनी सही जगह पर ही है।"

मेरी जिंदगी में वह क्षण ऐसा है जो मेरे अन्तस में अमिट है। मैं उस क्षण को प्रणाम और प्यार दोनों एक साथ करता हूँ। उसी से प्रेरित-उत्साहित रहकर जैसे मैं अपने जीवन और लेखन को प्रणाम और प्यार दोनों एक साथ करता हूँ। मैं जानता हूँ वह क्षण मेरे लक्ष्मी के ललाट

पर एक काले तिल के भी बराबर नहीं है, पर मेरे आगे के जीवन में वही क्षण मेरी भूमि (चित्त) माता के नवजात, श्यामल शिशु की तरह है। वही शिशु, बालक मेरा लेखक, मेरा रचनाकार है। वह सब जहाँ होता है, करता है जो कुछ मैं लक्ष्मीनारायण लाल उसके माता-पिता के रूप में खड़ा रहता हूँ ताकि कोई उसे किसी तरह की बाधा-विघ्न न पहुँचा सके। वह कहीं जरा भी डरे-गिरे नहीं।

अमृता जी, कभी इसके ठीक उल्टा होता है। मैं कभी लिखता, करता, सोचता, पढ़ता, देखता, जीता हूँ तो मैं अपना वही शिशु, मैं वही अपना बालक मेरे 'मैं' की रखवाली और उसकी रक्षा में लक्षावधि निश्चल खड़ा रहता है। वह मुझे जगाए रखता है। मुझसे हठ करता है कि कोई कथा कहो, मेरे लिए कोई और नाटक लिखो। मुझे टहलाने ले चलो। मेरे साथ रहो—सच, वही मेरी भूमि का रंग है, वही मेरी भूमि है, मैं उसका रंग हूँ। उसी ने मुझे अपनी भारतमाता से मिलाया। उसी ने मेरे अन्तः में धर्म संस्कृति के रहस्य खोले। उसी ने मुझे महात्मा गांधी से मिलाया। अपने देश समाज और 'अपनेपन' से परिचित कराया। उसने मुझे कितनी अमूल्य वस्तुएं दीं। भाव दिए, जीवन-मूल्य दिए, मित्र-परिवार दिए, जीवन की जानकारी, सतत जिज्ञासा भाव और न जाने क्या-क्या दिए।

तथाकथित आधुनिक लेखकों के तत्त्वज्ञान पर मेरा कोई अधिकार नहीं। मैं एक निवोध मनुष्य हूँ—व्यक्ति से आगे गया हुआ। श्रद्धा-विश्वास को जीता हुआ। विश्व पर, जगत पर, मनुष्य मात्र पर, अपने जीवन पर, मैं कभी संदेह नहीं करता।

अमृता : एक बहूत ही राजदान बात बताइए। कभी आपके सपनों ने कोई संकेत देकर आपकी किसी अधूरी रचना को पूरी करने में मदद की है?

लाल : मेरा विश्वास है, अनुभव भी कि जो स्वतंत्र है, वही एक हो सकते हैं। वही हमें मिलते हैं, यहाँ तक कि स्वप्न में भी। अपने जीवन में ऐसा दो बार हुआ है। पहली बात कलकत्ता के मित्र स्वर्गीय कमलाकांत वर्मा से जुड़ी हुई है। पुरानी दिल्ली, नई दिल्ली की पृष्ठभूमि पर उपन्यास लिखने की सामग्री ढूँढ़ रहा था। अनुसंधान, शोध-कार्य पूरा हो चुका था। कुछ लिखकर पूरा भी कर चुका था। न कोई उचित नाम सूझ रहा था, न वह

केन्द्र बिंदु पा रहा था, जहाँ से उपन्यास की कथा, पात्र-रचना को स्वरूप दे सकें। तब कमलाकांत की, जो अपने समय के प्रसिद्ध कहानीकार थे, वह जब भी दिल्ली आते, संगीतशास्त्र में श्रुतियों पर शोध कार्य के सिलसिले में, कृपाकर ईस्ट पटेल नगर के मेरे उस पुराने निवास पर ही ठहरते। उनसे हम रात को तुलसी के भजन सुनते। खासकर 'श्रीरामचंद्र कृपाल भजुमन हरण भवभय दारुणम्' का गायन। अजब संगीत स्वर में गाते हारमोनियम बजाकर। मैंने चाहकर भी अपने उपन्यास की समस्या उन्हें नहीं बताई। एक रात सपने में वही कमलाकांत जी आए। न जाने किसी भाषा में बोले—बताओ लाल, किस चीज़ का दान सबसे बड़ा दान है? उन्होंने जवाब दिया—सबसे बड़ा दान अहंकार का होता है। प्रेम में अगर किसी भी ओर अहंकार है, तो वह अपवित्र है।

मेरे उपन्यास का उन्होंने संकेत-भाषा में केंद्र बिंदु ही नहीं दिया, बल्कि उसका नामकरण भी कर दिया, 'प्रेम अपवित्र नदी।'

दूसरी बात 1977 की है। जिस दिन मुझे यह प्रश्न अपने आपसे प्राप्त हुआ कि यह जो हमारा वर्तमान राज्य है, राजनीति है, यह है क्या चीज़? राज्य के नाम पर जो राजनीति चल रही है, इसका हमारे जीवन से, देश से, समय से क्या रिश्ता है? क्या प्रसंग है और क्या अर्थ है? अगर यह कहना मेरे लिए बड़बोलापन न समझा जाए तो मुझे यह कहने की अनुमति दें कि जैसे सिद्धार्थ के सामने यह प्रश्न उनके भीतर से उनके सामने आया था, कि यह जीवन क्या है, जगत क्या है—ठीक उसी प्रकार मेरे सामने मेरे भीतर से यह प्रश्न आया कि यह हमारी राजनीति क्या है? इसका हमारे देश से क्या मतलब?

यह प्रश्न तब मेरे भीतर अपना पूर्ण स्वरूप नहीं ले सका था, जब मैं जयप्रकाश नारायण का जीवन-चरित्र लिख रहा था, या बिहार आन्दोलन में जब मैं उनके साथ था। मेरे भीतर इस प्रश्न ने अपना सपूर्ण स्वरूप प्राप्त किया 26 जून, 1975 की सुबह। इस प्रश्न के आमने-सामने खड़ा होकर, इसके साक्षात्कार में जितना कुछ पड़ा, सोचा, पाया, खोया, उसे बताना कठिन है—शायद असंभव है। परंतु इस प्रश्न के संदर्भ में जो पहली बात मेरे हाथ लगी वह यह कि जब तक राज्य समाज के अधीन था, तब तक

राजनीति नहीं राज्यधर्म था, परंतु जिस समय से राज्य समाज पर हावी हुआ, उस क्षण से राजनीति शुरू हुई। जहां जितना अभाव होगा, वहां उतनी ही राजनीति होगी। राजनीति का एकमात्र लक्ष्य है ताकत हासिल करना। शक्ति का स्रोत है मनुष्य और समाज—इनसे धीरे-धीरे इनकी शक्ति हथियाकर एक दिन राजनीति जिस सत्तावादी राज्य का रूप लेती है, वहां मनुष्य और समाज अंततः अपने हित, कल्याण और धर्म के स्वामित्व से हाथ धो बैठता है। आज भारतीय राजनीति का यही मूल चरित्र है। इस चरित्र में केवल 'राज' है, 'नीति' गायब होती चली गई है। यहां इस क्षेत्र में आकर हर कोई जैसे पश्चिम का 'किंग' बनना चाहता है। भारत का राजा नहीं। ऐसा क्यों हुआ? अंगरेजों ने इस देश को जो राज्य-व्यवस्था दी, उसका केवल एक ही लक्ष्य था कि उस व्यवस्था से वे इस देश पर राज करें—और राज्य का केवल यही उद्देश्य था कि इस देश को वे लूटें और हर तरह से यहां की जनता का शोषण करें।

इस विषय-वस्तु पर मैं अपना लेखन कार्य संपन्न कर चुका था। पर मुझे पुस्तक के लिए इसका उचित नाम नहीं सूझ रहा था।

नागपुर के मेरे अभिन्न मित्र, प्रख्यात लेखक, पत्रकार, हिंदी सेवी अनंत गोपाल शेवड़े जी एक रात सपने में आए। मुझे इस क्षण भी उस सुगंध की अनुभूति हो रही है, मेरे पास आते ही कमरा चंदन की गंध से भर गया। उन्होंने पुस्तक का नामकरण किया—'निर्मूल वृक्ष का फल' और अदृश्य हो गए। मेरी आंख खुली, तब भी उन्हें ढूंढता रहा। आज भी, जब ये दोनों मित्र इस प्रत्यक्ष जगत में नहीं हैं, मैं इन्हें नहीं भूल पाता।

कहना चाहता हूँ, मेरी दुनिया में तर्क करने के उस तरह के प्रश्न नहीं हैं, जैसे प्रश्न मेरे साथ के लोग पश्चिम का साहित्य पढ़कर करते हैं।

अमृता : जिंदगी से जो किरदार आपने लिये, जरूर कभी उन लोगों ने आपकी रचना के आईने में खुद को देखा होगा। उसकी प्रतिक्रिया उन पर क्या हुई, कुछ कहेंगे ?

लाल : अमृता जी, मेरा लेखन गायन की तरह है, जो प्रतिक्षण सञ्चल

रहता है। जैसे गायन, ठीक उसी तरह मेरा लेखन है। इसका मूल कारण है कि मेरे सारे लेखन का आधार जीवन है। मेरे सारे पात्र जीवन के चरित्र हैं। जीवन से लिये गए चरित्र से जब पात्र बनाया जाता है, तब उसमें बनाने वाले का भी अंश स्वभावतः आ ही जाता है। इससे एक विशेष आकर्षण मेरे उन चरित्रों को हुआ है, जो मेरी रचनाओं के पात्र हैं, इस संबंध में तीन चरित्रों-पात्रों, की चर्चा आवश्यक है। पहला 'अंधा कुआं' नाटक की सूका, दूसरा—'सुंदरी' कहानी की नायिका, तीसरा 'मन वृंदावन' का सुबंधु। सूका काकी मेरे गांव, मेरे घर के पिछवाड़े—की थी, वे-पढ़ी-लिखी। उन्हें न जाने किससे मेरे नाटक 'अंधा कुआं' की कथा और सूका के बारे में पता चला। किसी ने उन्हें पढ़कर सुनाया था। सूका के रूप में काकी अपने आपको देखकर, कई दिनों तक चुप हो गई थीं। एक बार जब हमारी भेंट हुई तो पहले वह खिलखिलाकर हंसीं। फिर मुस्कान भरे मुख से बोलीं, "हे हो लाल भइया, ई नाटक हम पै लिख्यो है?"

"हां, क्यों काकी, कोई गलत बात तो नहीं लिखा?"

मुंह में अपने आंचल का एक छोर भरकर वह चुप हो गईं। उनकी आंखों से जो आंसू बहने देखा, मेरे होश उड़ गए। उनके सामने खड़ा रह पाना संभव नहीं था। तब तक काकी भरे कंठ से बोलीं, "का तू हमरे दुख-दर्द की बात कहे हो? नहीं कौन कहि सकै ऊ?"

काकी हंसने लगी थीं। वह निर्मल हंसी, जो डंडों की मार से टूटे दांतों और फटे होंठों के बीच से उमड़ रही थी, वह अपनी संकेत भाषा में मुझसे कह रही थीं—जो कोई मेरे चरित्र पर दोष लगाएगा तो वह दोष मुझे लगेगा। बताओ, क्या मेरे इतने आंसू मेरी लज्जा नहीं ढकेंगे?" साक्षात् काकी ने अपने सूका नामक पात्र को आईने की तरह मेरे सामने रख दिया था। उसमें अपने आपको मैंने स्वयं देखा—सूका के पैरों पर एक आंसू की बूंद ढुलक गई थी।

'सुंदरी' कहानी की नायिका देखने में इतनी असुंदर थी कि क्या कहूं। आंख छोटी-बड़ी, रंग काला, दांत निकले हुए। न कोई गुण न शऊर। पति से लड़ाई। पति की मार, गाली-गलौज। पर उसमें एक गुण था। जो भी काम करती, उत्तम। अवगुण यही था कि जिसे एक बार देखा, उसी के

साथ भागकर उसकी पत्नी हो गई थी। इसलिए पति को हमेशा यही डर कि वह फिर किसी के साथ भाग सकती है—इसलिए उसे लेकर हमेशा गांव-बस्ती से दूर कहीं सबसे अलग ही रहता। वही मेरी 'सुंदरी' के रूप में मेरी कहानी में आई। वह चरित्र मेरी समुराल के गांव का। वह कहानी भी किसी ने पढ़कर उसे सुना दी। वह बहुत खुश। जब भी मैं अपनी समुराल फरीदपुर गांव गया, वह पूरा श्रृंगार कर कहीं दूर से मुझे देखती। तब तक देखती रहती, जब तक मैं उसे न देख लूं।

उसने कभी भी मुझसे कोई बात नहीं की। सिर्फ अपनी सुंदरता से मुझे आकृष्ट किया।

'मन वृंदावन' का सुबंधु मेरे अपने एक मित्र का ही चरित्र है। 'धर्म युग' में जब यह उपन्यास धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रहा था, तब वह अपने चरित्र को सुबंधु के पात्र में पढ़ रहे थे। दुनिया के लिए वह साधु हो गए थे। साधु चोला भी धारण कर लिया था। पर सुबंधु के रूप में अपने को देखकर बड़े विचलित थे। पहले मुझसे लड़े-झगड़े। अपने आपको भी दुख दिया। एक दिन बोले, "तुमसे सच कह रहा हूँ लाल, तुमने ऐसा चित्र क्यों बनाया? अब मैं वह नहीं बना रह सकता जो मैं नहीं हूँ। वह नहीं जी सकता जो नहीं हूँ। अब बोलो, क्या करूँ?"

यही प्रश्न सुबंधु ने 'मन वृंदावन' में स्वयं से किया है। जीवन में सुबंधु ने मुझसे जो स्वीकार किया, उसे मैं कभी नहीं भूलूंगा। उसने मुझसे कहा कि लाल, तुम्हारा 'मन वृंदावन' पढ़कर मैं यह कभी नहीं मानूंगा कि एक का भला, दूसरे के विनाश से ही संभव है। मानूंगा, हर एक की अपनी इच्छानुसार जीने का अधिकार है।

अमृता : आप कुछ देर राजनीति से भी जुड़े रहे थे—शायद सियासत से नहीं, सियासतदानों से, फिर बाद में कुछ पछतावा हुआ कि नहीं?

लाल : यह बड़ा दर्दनाक सवाल पूछा। इस सवाल ने मुझे बहुत भटकाया। बड़ी तकलीफें दीं। पर इस सवाल के उत्तर पाने की प्रक्रिया में मैंने जो समझ पाई, वह मेरे लिए अमूल्य निधि-सी साबित हुई। सवाल के उत्तर ढूंढने में मैंने सप्रमाण देखा कि आज हम जिस राज्य और उसकी राजनीति को देख रहे हैं वह 'इंडिया' की डेमोक्रेसी (पश्चिमी) से

'उत्पन्न राजनीति है, भारत के लोकतंत्र या जनतंत्र की राजनीति नहीं।' पश्चिम में उसकी अपनी डेमोक्रेसी और उसकी राजनीति का चरित्र स्वभावतः आधुनिक है। परंतु वही चूक हमारी भारतीय मनीषा और सामाजिक बोध से बेमेल है, विपरीत है, फलतः उसी राजनीति का चरित्र यहां मध्ययुगीन है। राजमहल या जेल, दो ही जगहें हैं जहां हमारे यहां का राजनेता निवास करता है, वल्कि जहां उसे निवास कराया जाता है। दोनों स्थानों पर सिपाही का पहरा रहता है। इसकी चरित्रगत विशेषताओं में आडंबर, दरबारी सभ्यता, झूठ, और क्रूरता उल्लेखनीय है। मध्य युग में कहीं एक तैमूर, एक नादिरशाह, एक बाबर, एक ब्राह्मण लूटकर चला जाता था, अब असंख्य छोटे-छोटे तैमूर और नादिरशाह लगातार लूटते रहते हैं।

चाहे कोई सत्तादल में हो या प्रतिपक्ष के किसी भी दल में, आज की हमारी राजनीति ने सबको अपनी जगह से उठाकर राजमहल की खिड़की के पास खड़ाकर दिया है। सबको परधर्मी और लालची बनाया है। यह राजनीति मनुष्य को बेहतर बनाने, गरीब की गरीबी मिटाने के नाम पर अपना व्यवसाय करती है। इसे पता है कि इसका अस्तित्व ही निर्भर है मनुष्य के दारिद्र्य, दुःख, विपत्ति, संकट और उसके अज्ञान पर।

भारत का राजनेता सबसे अधिक वाणी या भाषा का उपयोग करता है। वह तीन प्रकार की भाषा इस्तेमाल करता है—आध्यात्मिक भाषा, क्रांतिकारी भाषा और बाजारू भाषा। पश्चिम का पत्रकार और राजनयिक इसकी भाषा से आश्चर्यचकित रह जाता है। उसकी समझ में कुछ नहीं आता। भारत के राजनेता और व्यापारी में पूरी तरह से समानता है। अगर असमानता है तो केवल एक—राजनेता बिना किसी माल के, पूंजी के अपना व्यापार करता है—इसीलिए इतनी बातें करता है 'सेवा', 'देश की सेवा' आदि और ध्यान रहे कि मनुष्य सेवा नहीं, यहां तक कि अपने स्वास्थ्य की सेवा नहीं, केवल देश-सेवा। और व्यापारी माल सामने रखकर अपना व्यापार करता है, और केवल 'लाभ' के लिए चुप्पी साधे रहता है।

इसके इस चरित्र का फल यह हुआ कि समाज के स्थान पर राज-व्यवस्था नहीं, राज्य शक्तिशाली हो गया है। व्यक्ति की जगह परिवेश दुर्दम और अजेय हो गया है। लोग राज्य से विकने के लिए हर क्षेत्र में

‘कैरियरिस्ट’ बनने के लिए विवश हुए। इसलिए इस राजनीतिक परिवेश में हर कोई ‘भेरी मांगों’ की लिस्ट लिये घूम रहा है। वही परिवेश उत्तरोत्तर अधिक मांग, अधिक इच्छा और अधिक भूख पैदा कर रहा है। और वही अपने से संघर्ष का नाटक भी रचाता है। वही दाता है, वही डाकू है, वही नियंता है। एक हाथ से लेना, दूसरे से देना। एक ओर मांग की स्थितियां पैदा करना, दूसरी ओर लूट लेना।

अमृता : आज ये तो मानना पड़ेगा, कुछ लोग अक्षरों से प्यार करते हैं, और कुछ लोग अक्षरों का व्यापार करते हैं। ये स्थितियां एक-दूसरे के मुंबालिफ हैं, लेकिन इनके लिए नाम तो एक ही इस्तेमाल होता है—‘साहित्य।’ आप कहिए इस नाम की आबरू का क्या होगा ?

लाल : अमृता जी, यह आप ही जैसे साहित्यकारों से जाना है कि अक्षर का संबंध धर्म से है, अपनेपन से है, जिसे संस्कृति कहते हैं। अक्षर का अर्थ है—जिसका ‘क्षर’, नाश न हो। यह एक ओर है। पर जिस अक्षर का दूसरी ओर व्यावसायिक-आर्थिक क्षेत्र में व्यवहार होता है, वह अक्षर नहीं है, शब्द भी नहीं, वह तो एक लिपिवद्ध लेखनमात्र है, जिसे इस वर्ग के लोगों ने साहित्य नाम दे रखा है। यह अक्षर नहीं क्षर है। शब्द नहीं लिपि मात्र है। इस लिपि के पदों में, कोख में किसी तरह ताकत हथियाने, नाम, धन, पद लूटने की मारामारी है। यह साहित्य के नाम पर नंगी राजनीति है।

जिस अक्षर से साहित्य बनता या रचित होता है, उस अक्षर का संबंध अर्थात् उस साहित्य का विषय व्यक्तिगत होता है। ‘इंडिविजुअल’ नहीं। यहां पर मैं भारतीय ‘व्यक्ति’ शब्द और पश्चिम के इंडिविजुअल शब्द के परस्पर विरोध पर जोर देना चाहता हूँ। व्यक्ति शब्द के धातुमूलक अर्थ का आशय है, जो अपनी विशेषताओं के भीतर से व्यक्त हो उठा है, वही व्यक्ति है। ‘इंडिविजुअल’ का धातुमूलक अर्थ है, वह अंतिम इकाई जिसका आगे विभक्तिकरण संभव नहीं है। हमारा अधिकांश तथाकथित आधुनिक साहित्य इसी ‘इंडिविजुअल’ का साहित्य है, जिसमें स्वभावतः अक्षर का गौरव नहीं है। मैं तो यहां तक कहता हूँ कि उसमें शब्द का भी गौरव नहीं है। क्योंकि उनमें अपनी कोई विशेषता व्यक्त नहीं हो रही है।

व्यक्ति की विशेषता उनके साहित्य में तभी व्यक्त हो सकती है, जब वह व्यक्ति स्वयं स्वतंत्र हो। वह अपने आप में पूरी तरह से यह विश्वास कर सके कि इस जगत में पूरी तरह से उसके अनुरूप दूसरा नहीं है।

आज हम साहित्य-जगत में जब यहां तक देखते हैं कि नामों के ऊपर एक लेखक दूसरे पर मुकदमा ठोकने की विवश है तो यही लगता है कि वह अक्षर की गरिमा से बहुत दूर हटकर पश्चिम के ‘इंडिविजुअल’ पर चला गया है।

मेरे खयाल से जिस दिन व्यक्ति अपने सही धरातल से अक्षर की महिमा पुनः प्राप्त कर रचना क्षेत्र में उसे साधेगा, उसी क्षण अक्षर की गरिमा उसे अनुभूत होगी। वही अनुभूति साहित्य का पद पुनः प्राप्त करेगी।

किंतु आज के अधिकांश साहित्य में अक्षर का गौरव नहीं है, मतलब साहित्यकार होने का आत्म-गौरव नहीं है, यह महसूस कर लज्जित होना पड़ता है। जिस विशेष गुण से यहां सारा दृश्य जगत, मानव व्यवहार, दुख-सुख, नाते-रिश्ते शब्दों में इस तरह व्यक्त हो उठते हैं कि हमारा चित्त उन्हें स्वीकारने के लिए बाध्य हो जाता है। वही तो है अक्षर गुण। वही गुण प्रायः दुर्लभ होता जा रहा है। इसका मूल कारण इस देश की वही राजनीति है, जिसने अधिकांश साहित्यकारों को अपनी साहित्य रचयिता की भूमि से उठाकर राजमहल की खिड़की के पास खड़ा कर दिया है। साहित्य रचयिता अपने जिस अक्षर-वैभव पर स्थित होता है, उसमें वह शक्ति होता है, जिसे केवल वही जानता है। जिसे नाम दिया गया है कल्पना-शक्ति, रचना-शक्ति, सौंदर्य-शक्ति। जिसे मैं शिव-शक्ति मानता हूँ।

अमृता : नौ ग्रहों की तरह नौ सवाल ही मन में आये हैं। इसलिए यह नौवा आखिरी सवाल पूछती हूँ कि पाकिस्तान के एक शायर मजहरउल इस्लाम ने नए साल की दुआ मांगते हुए तड़पकर खुदा से कहा है, ‘ऐ खुदा, इस आने वाले साल में तू सब अदीबों की नजमों और कहानियों में सच्चाई और मुहब्बत उतार।’ मैं मानती हूँ, मैं भी इस दुआ में शामिल हूँ। लेकिन एक चीज होंठों पर तड़पती है कि ये दुआ मांगने की नौबत

क्यों आई ? आप क्या कहना चाहेंगे ?

लाल : अमृता, दुआ मांगने की नौबत इसीलिए आई कि साहित्यकार अपने व्यक्ति स्थान से हटकर औरों से परिचय, सम्मान, यश, सत्ता, प्रशंसा प्राप्त करने के स्थान पर चला गया। साहित्यकार नामक 'व्यवित' के लिए इस मायने में खुदा भी दूसरा या पराया (और) ही है। मांगना चाहे किसी से भी हो, मांगना तो मांगना ही है। मांगना है तभी तो परिचय पर, श्रेणी पर, वर्ग पर, इतना बल है। परिचय, पहचान के आधार पर दूसरे से मांगने पर चूंकि इतना अधिक जोर है, फलतः राज्य और सत्ता इतना हावी हो चुकी है साहित्यकार पर कि अपने समाज से, अपने आप से कटा और उखड़ा हुआ वह सबसे अधिक अरक्षित, असहाय हो गया है—तभी तो खुदा की याद आई है। पहले उस याद, उस दुआ मांगने की नौबत क्यों नहीं आई, जो आज याद आ रही है। क्योंकि साहित्य कर्म और दुआ दोनों में इतना फर्क नहीं था तब।

मेरा निवेदन है अमृताजी, चूंकि यह भाषा आप ही समझ सकती हैं—क्योंकि ऐसी भाषा आप जैसी शायरा और श्रेष्ठ गद्यकार की ही हो सकती है कि मृदु स्वभाव वाला हिरण भागकर ही अपनी जान बचाता है लेकिन साहित्यकार अपने लिखे अक्षरों से भागकर कहां जा सकता है !

□□

